है कि वहां बेकारी का डर ही नहीं रहा ? क्या मनुष्य अपना एवं अपने समाज का संगठन इस प्रकार नहीं कर सकता कि किसी को रोटी न मिलने का भय न रहे, युद्ध एवम् अणु बम का भय न रहे ? ऐसा हो सकता है। यह प्रमाणित हो चुका है कि ऐसा होना व्यावहारिक सत्य है। व्यक्तिगत वाह्य जीवन, समाज, राष्ट्र एवम् वाह्य संसार की समस्याओं की ओर देखने का यह एक विशेष दृष्टिकोण है जो यह मान कर चलता है कि सामाजिक प्राणी एवं उसके समाज के व्यापारों एवं संगठन में किसी भी परोक्ष सत्ता का बिल्कुल दखल नहीं है। समाज में संगठित मनुष्य अपनी बुद्धि, अन्वेषण, भिन्न-भिन्न प्राकृतिक सामाजिक शक्तियों के विश्लेषण आदि से प्राप्त ज्ञान विज्ञान (Positive and Social Sciences) के आधार पर, किसी भी परोक्ष सत्ता से स्वतंत्र, अच्छी बुरी जैसी चाहे अपनी तथा अपने समाज की व्यवस्था कर सकता है। इस प्रकार के दृष्टिकोण को हम वैज्ञानिक दृष्टिकोण कह सकते हैं जो उपरोक्त धर्म-प्रधान दृष्टिकोण से भिन्न है।

समस्याओं का अध्ययन करने के लिये ऊपर जो दो संभावित दृष्टिकोण बताये गये हैं उनमें स्पष्टतः एक आधार-भूत (Fundamental) फर्क है। तो सबसे पहले, आज की दुनिया में प्रत्येक व्यक्ति के लिये जिसकी सामाजिक चेतना थोड़ी सी भी जागरूक है, यह तय कर लेना जरूरी है कि वह जीवन और समाज की समस्याओं के प्रति कौनसा दृष्टिकोण अपनाये।

समस्याओं का अपने अपने विचारानुसार कारण ढूंढ़ लेने पर स्थिति आयेगी कि समस्याओं को दूर करने के लिये ढूंढ़े हुए कारण के अनुसार हम अपने विशेष रास्तों पर चलें। जब तक बात विचारात्मक क्षेत्र तक ही रहती है, व्यावहारिक क्षेत्र में नहीं उतरती, तब तक तो किसी कड़े संघर्ष की सम्भावना नहीं—किन्तु बात जब व्यावहारिक क्षेत्र में उतरने लगती है तब संघर्ष पैदा हो सकता है। सम्भव है आप अपने रास्ते पर चलने का दुराग्रह करेंगे और आप का दुराग्रह इतना बढ़ सकता है कि आप मुझे भी जबरदस्ती अपने रास्ते पर ले जाने का प्रयत्न करें। यहां तक कि यदि मैं न मानूं तो आप मुझे, मारें पीटें, और फिर भी न मानूं

प्रकाशकीय

"चेतना"—प्रकाशन विभाग की ओर से प्रस्तुत पुस्तक को "चेतना चयन प्रथम" के रूप में हिन्दी के विज्ञ पाठकों के समक्ष उपस्थित करते हुए अपार प्रसन्नता होती है। इस प्रथम प्रकाशन के शुभ अवसर पर "चेतना—प्रकाशन विभाग" व "चेतना" की अन्य प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डालना चाहेंगे।

राष्ट्र भारती की सेवा करने की दृष्टि से कुछ साहित्यिक बन्धुओं ने मिलकर "चेतना" का संगठन किया। राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि की सर्वांगीण उन्नति का गुरुभार हर भारतीय पर है, हिन्दी भाषियों का तो यह पुनीत कर्तव्य ही है, इस कर्तव्य की भावना से प्रेरित होकर हमने यह संगठन किया है। हम मानते हैं कि राष्ट्रभाषा की उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि हममें एक धर्म प्रचारक का सा अदम्य उत्साह हो, साथ ही व्यवसायी का व्यवस्था कौशल। इनमें से एक के भी अभाव में हम अपनी लक्ष्य सिद्धि में असफल रहेंगे।

"चेतना" की कार्य योजना के विभिन्न अंग इस प्रकार होंगे।

१. साहित्य वितरण, २. अभिपद, ३. समालोचना, ४. अनुवाद, ५. पुस्तक परिषद, ६. मुख पत्र, ७. प्रकाशन विभाग, ८. विविध।

जैसा कि आप ऊपर की कार्य योजना की रूप रेखा से देखेंगे, अन्य प्रवृत्तियों के साथ-साथ साहित्य प्रकाशन का कार्य भी हम करेंगे। साहित्य प्रकाशन में हमारा एक विशेष उद्देश्य होगा। आज, स्वतंत्र भारत में, सुनियोजित साहित्य निर्माण की आवश्यकता है। यह ठीक है कि साहित्यकार साहित्य निर्माण में स्वतंत्र है, उसे किसी निश्चित सांचे में ढालकर साहित्य निर्माण करने के लिए वाध्य नहीं किया जा सकता। विचार स्वातंत्र्य साहित्यकार का ही क्या, प्रत्येक व्यक्ति का जन्म सिद्ध अधिकार है, पर आज आवश्यकता इस बात की है कि राष्ट्र-भारती का हर अंग पुष्ट हो, मात्र ललित साहित्य (कहानी, कविता, नाटकादि) साहित्य नहीं; सामाजिक विज्ञान एवं वैज्ञानिक साहित्य भी साहित्य का अंग है, महत्वपूर्ण अंग। आज की स्थिति में राष्ट्र भारत को इसी

प्रकार के साहित्य की आवश्यकता अधिक है। इस प्रकार का साहित्य प्रकाशन आज भी आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद नहीं है। हमने इसी लिए अपना कर्तव्य समझा कि हम इस दिशा में सचेष्ट हों। इस प्रकार के साहित्य की आवश्यकता है, मांग भी है, प्रकाशित होने पर विकेगा भी, आवश्यकता है सचेष्ट होकर उपयुक्त ग्राहकों तक धर्म प्रचारक के उत्साह से उसे पहुंचाने की।

आचार्य रामेश्वर गुप्ता की इस पुस्तक से हम "चेतना चयन" ग्रंथमाला का श्रीगरोश कर रहे हैं। "मानव की कहानी" के प्रकाशन से ही गुप्ता जी ने हिन्दी साहित्य में अपना एक निश्चित स्थान बना लिया है। उनकी इस पुस्तक ने हिन्दी साहित्य की एक विशेष कमी को पूरा किया था, इसे हिन्दी के एवं अन्य भारतीय विद्वान स्वीकार कर चुके हैं। हमें विश्वास है कि उनकी यह दूसरी पुस्तक भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगी।

प्रस्तुत पुस्तक में मानव जीवन का और उन समस्याओं का सहज विश्लेषण है जो आज के मानव को और उसके अंतस को दबोचे डाल रही हैं। कुछ विशेष लेखों द्वारा यह स्पष्ट संकेत करने का प्रयास किया गया है कि मानव समाज और स्वयं मानव का विकास किस ओर है? यह संभव है कि कुछ लोग लेखक के विश्लेषण से पूर्णतः या अंशतः असहमत हों, यह भी संभव है कि उन समस्याओं के हल करने के मार्ग या संकेत को सभी बिल्कुल ठीक न समझें; पर एक बात निश्चित है, इस पुस्तक से पाठक आज के मानव जीवन, उसकी समस्याओं के विश्लेषण, उनके हल, इन सबके बारे में गम्भीरता पूर्वक विचार कर स्वयं किसी निष्कर्ष तक पहुंचने के लिये प्रेरित होगा। मानव जीवन को देखने और समझने के उसके दृष्टिकोण में व्यापकता आयेगी, हमारे चयन की यही कसौटी रही है। पाठक निर्णय देंगे कि सम्पादक और लेखक किस हद तक अपने उद्देश्य में सफल रहे हैं।

—परमेश्वर श्री० बगड़का,
सम्पादक,
चेतना-प्रकाशन विभाग।

विषय-सूची

पुस्तक के कई अंश निबंध रूप में, "विशाल भारत", "विश्व वाणी", "साहित्य संदेश", "चेतना", "समाज शास्त्र", "विश्वज्योति", "राष्ट्र दूत" एवं एक अंश का गुजराती अनुवाद गुजराती पत्र "अतिथि", तथा एक अन्य अंश का अंग्रेजी अनुवाद "Reason" में प्रकाशित हो चुके हैं।

यह मान लेना गलत होगा कि व्यक्ति का आनंद प्रकृति और समाज निरक्षेप है, और यह मान लेना भी गलत होगा कि प्रकृति और समाज के विकास का अर्थ व्यक्तिगत चेतना में आनंद की अभिवृद्धि करना नहीं है।

× × × ×

वस्तुत: हिंसा और युद्ध वैयक्तिक सम्पत्ति में निहित घोर स्वार्थ, असमानता, परस्पर प्रति-स्पर्धा और तद्जनित द्वेष और वैर-भावना के स्वाभाविक परिणाम हैं।

× × × ×

प्रेरक—उत्कृष्ट मानवता के प्रतिरूप स्वामी कुमारानंद

भूमिका

मैं क्या विश्वास करता हूं ?

(१) मैं विश्वास करता हूं कि मानव के सामूहिक जीवन अर्थात् उसके सामाजिक संगठन के विकास की दिशा उस ओर है जहां उसकी भौतिक आवश्यकताओं [जैसे रोटी, कपड़ा, मकान] की पूर्ति का प्रश्न उसके दुःख, उसके मानसिक भारीपन, उसकी चिंता एवं गुलामी का कारण न बना हुआ हो जैसा कि वह आज मुख्यतः बना हुआ है;—जहां उसकी उक्त भौतिक आवश्यकतायें बिना किसी शोषण के, सब व्यक्तियों के व्यक्तित्व के प्रति समान आदर भाव रहते हुए पूरी हो जाती हों;—जहां मानव अपने आपको इन भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति की दृष्टि से आश्वस्त अनुभव करता हो। मैं मानता हूं कि ऐसे विकसित सामाजिक संगठन का संभावितरूप,—जिसमें सामाजिक-आर्थिक सुरक्षा की दृष्टि से व्यक्ति निश्चित हो—ऐसा होगा जिसमें आज प्रचलित व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा का उन्मूलन हो चुका हो और उसकी जगह समस्त सम्पत्ति का सामाजीकरण हो चुका हो। हम यों मान सकते हैं कि सामाजिक जीवन की गति अवश्यमेव अधिक स्वतंत्रता की ओर है, जिसमें मानव भौतिक परिस्थितियों की गुलामी से अपने आपको अधिक मुक्त अतः मानसिक या आध्यात्मिक उत्थान के लिये अधिक उपयुक्त स्थिति में पायेगा।

(२) मानव की अपनी गति उस ओर है जहां उसकी मानवीय चेतना में अति-मानस [Superconsciousness] का विकास हो। 'अतिमानस,' अर्थात् मानव में ऐसा मानस या ऐसी चेतना जो द्वन्द्व रहित है, और शेष सृष्टि के साथ ऐक्य जिसकी सहज स्वाभाविक अनुभूति है। याद रखिये मानव प्रकृति से भिन्न या पृथक कोई वस्तु या

अस्तित्व नहीं; अचेतन प्रकृति में किसी काल विशेष म चेतना का विकास हुआ था, जिसका उच्चतम चेतनामय रूप आज है मानव; प्रकृति के इसी चेतनामय रूप में "अतिचेतना" के अवतरित होने की संभावना है। मानो यह समस्त प्रकृति, यह समग्र सृष्टि एक विकासमान प्रक्रिया है जिसने अपनी विकास गति में "चेतना" नामक एक विशेष स्थिति को तो पालिया है, और अब यह किसी "अति-चेतना" की ओर उन्मुख है; और अतिचेतना की उपलब्धि के बाद न जाने किस ओर ?

(२) प्रकृति या समाज और मानव की इस गति और विकास दिशा में मैं केवल इस दृष्ट प्रकृति की और प्रकृति की ही एक विशेष विकसित अभिव्यक्ति चेतनामय मानव की सत्ता को स्वीकार करता हूं; इस प्रकृति के परे किसी भी परा-प्रकृति; या अति-प्राकृतिक या अलौकिक सत्ता या आत्मा को नहीं। प्रकृति या स्वयं मानव स्वयं की अपनी विकास की अनेक कल्पनातीत संभावनायें तो मानता हूं,—मानता हूं कि मानव स्वयं अन्तर्वाह्य साम्य द्वारा ऐसी मनः स्थिति को प्राप्त कर सकता है जिसे हम दुख से निवृति और आनंद की अनुपम अनुभूति की स्थिति कह सकते हैं। यदि मानव की ऐसी विशेष विकसित स्थिति का ही नाम आत्मा है, तो ठीक है, आत्मा है, मुझे कोई उज्र नहीं, किन्तु वह प्रकृति या उसके ही अंग मानव-मानस से भिन्न और पृथक कोई तत्त्व नहीं, वह प्रकृति में ही विशेष विकसित एक गुण या स्थिति विशेष का नाम हुआ, किसी पृथक सत्ता का नहीं —अस्तु मानता हूं कि जिस प्रकार मूक निश्चेतन प्रकृति में वाणी और चेतना का उद्भव हुआ उसी प्रकार इसके आगे किसी एक स्थिति का विकास हो सकता जिसकी कल्पना उपरोक्त "अतिमानस", "अति-चेतना" की स्थिति कहकर की गई है। किन्तु यह नहीं मानता कि इस समस्त प्रक्रिया या व्यापार में इस प्रकृति या मानव से परे और पृथक प्राकृतिक या मानवीय व्यापार को प्रभावित करने वाली तथा-कथित कोई (सर्वथा निरपेक्ष), अविशेष आत्मतत्त्व, ईश्वरतत्त्व या अदृष्ट भूत-प्रेत या स्पिरिट (Spirit) है।

मैं ऐसी किसी आत्मा या प्रेततत्त्व की सत्ता को मानने लगूं, ऐसी मान्यता मेरे लिये केवल एक बात पर निर्भर करती है, और वह

है पुनर्जन्म। मैं मानता हूं कि जीव की मृत्यु होने पर किसी ऐसी "हवा" या "प्रेत" या 'आत्मा" का अस्तित्व नहीं रहता, जो फिर किसी दूसरे शरीर में प्रवेश करता हो और "वही" पुनः जन्म लेता हो। अर्थात् मैं मानता हूं की पुनर्जन्म नहीं होता। जिस दिन पुनर्जन्म की मुझे प्रत्यक्ष साक्षी मिल जायेगी, वैज्ञानिक स्पष्ट आधार मिल जायेगा, ऐसा आधार जिसको साधारण लोग भी स्पष्टतया देखने लगें, जैसे आज वे प्रत्यक्ष देखते हैं कि वाणी की लहरें सर्वत्र प्रसारित होती रहती हैं और कहीं भी एक विशेष यंत्र द्वारा पकड़ी जासकती हैं या जिस प्रकार आज वे स्पष्ट देखते हैं कि एक अणु में विशाल शक्ति भरी पड़ी है,—उसी दिन मैं मानने लगूंगा कि हां दृष्ट प्रकृति से भिन्न और उससे परे स्पिरिट, प्रेत या आत्म-तत्त्व कुछ है; और यह या ये तत्त्व प्राकृतिक, मानवीय व्यापार को, मानव के भाग्य को, व्यक्ति और समाज के भाग्य को वाहर से प्रभावित करते रहते हैं। किन्तु अभी तक कहीं भी मुझे ऐसी साक्षी नहीं मिली है। अतः यहीं मानता हूं कि मनुष्य प्रकृति जन्य अपनी सीमाओं के अन्दर-किसी भी कर्मवाद, भाग्य या भगवान के प्रभाव से निरपेक्ष, व्यक्तिशः या सामूहिक रूप से इस पृथ्वी पर अपने जीवन का, अपने सुख दुखों का निर्माण स्वयं करता रहता है। वहुत ऐसे खेल और जादू देखे हैं जिनमें मृतजीवों की आत्माओं को "प्लैनचेट" (तिपाई) के सहारे वुलाया जाता है और उनसे भूत भविष्य की वातें पूछी जाती हैं; कई ऐसे समाचार और कहानियाँ सुनी गई हैं जिनको पुनर्जन्म के विश्वास का आधार माना जाता है, किंतु इन जादुओं, कहानियों और समाचारों का परीक्षण करके देखे जाने पर, उनके उचित अनुसंधान पर, यही तथ्य सामने आया है कि वे सव निराधार हैं। ऐसा देखागया है कि अस्वस्थ, वीमार, निर्वल व्यक्ति जिनके मानस और शक्ति का विकास अवरुद्ध है, उन्हीं पर इन प्लेनचेट या मेसमेरिज्म के खेल सफल हुऐ हैं, अन्यथा नहीं। और उनने भी मानव समाज की तो छोड़ो किसी व्यक्ति विशेष का भी कहीं कुछ भला किया हो, ऐसा देखने में नहीं आता। पुनर्जन्म संवंधी शाँता लड़की के प्रसिद्ध मामले की जांच करने पर देखागया कि उसकी वात स्वयं शास्त्रों के आधार पर तथ्यहीन निकली, क्योंकि उसकी पूर्व मृत्यु और फिर

मानव योनि में पुनर्जन्म में केवल ६५ दिन का अंतर बतलाया जाता था जबकि स्वयं हिन्दू धर्मशास्त्र, सुश्रुत, वराहमिहिर, गीता, आयुर्वेद के अनुसार मानव योनि में पिछली मृत्यु, और यदि मानव योनि में पुनर्जन्म हो तो, इन दोनों दशाओं में कमसे कम नवमास का अंतर तो होना ही चाहिये था। वैज्ञानिक जांच से ऐसी बातों के पीछे अंत में वस्तुतः किसी मानसिक कमजोरी अथवा बीमारियों के ही लक्षण पाये गये हैं। कई मानसिक निर्बल (deficient) व्यक्तियों में सचमुच ऐसी बीमारी जिसे सिजौफ्रेनिया कहते हैं देखने को मिली है जिसमें अर्ध-चेतन अवस्था में उठकर व्यक्ति अपने पास पड़ोस में आग लगादेता है, फिर आकर सोजाता है और उसे अच्छी तरह से भान भी नहीं रहता कि उसने क्या करडाला है। अतः मृतात्माओं को बुलाना, उनके संदेश लेना, आदि एक प्रकार के खेल हैं जो शारीरिक एवं मानसिक दुर्बलता से पीड़ित व्यक्तियों के सहारे खेले जाते हैं। हां यह बात तो ठीक है कि आप अपनी इच्छा शक्ति के प्रभाव में लाकर किसी अन्य व्यक्ति से अपने मन की बात या उसी के सुषुप्त मनकी बात कहलवालें, किंतु इससे यह कभी सिद्ध नहीं होता कि कोई परा-प्रकृतिशक्ति, भूतात्मा, प्रेतात्मा या इधर उधर डुलती फिरती कोई आत्मा या शरीरविहीन कोई सूक्ष्मतत्त्व है। शरीर से पृथक कभी किसी प्राण या चेतना या विचार भावना या किसी भी प्रकार की अनुभूति का अस्तित्व नहीं देखा गया। प्राण या चेतना किसी विशेष वस्तु का, जीव का धर्म (property) है—जिस प्रकार तरलता जल का धर्म है। प्राण या चेतना या तथाकथित आत्मतत्त्व कीउस वस्तु या प्राणी विशेष से पृथक, निरपेक्ष, स्वयं में ही स्थित और सत्य कोई सत्ता नहीं। कि चेतना किसी शरीर या शरीर के ही एक प्रमुख अङ्ग मस्तिष्क या स्नायु प्रणाली का धर्म है—इसका प्रत्यक्ष ज्ञान केवल इसी बात से हो जाता है कि किसी के सिर पर कड़ी चोट लगाकर उसका सिर सुन्न करदो तो जबतक सिर पर उस चोट का प्रभाव है, तब तक वह प्राणी चेतना विहीन हो जाता है, अर्थात् उस शरीर या स्नायु प्रणाली (मस्तिष्क) से पृथक मन या चेतना का कोई अस्तित्व नहीं।

यहां तक तो मैंने बात की प्रकृति एवं जीवन-व्यापार के मेरे प्रत्यक्ष, यद्यपि साधारण अवलोकन–निरीक्षण एवं अनुभव की; किंतु धर्म एवं दर्शन-शास्त्र के सारतत्त्व को भी जहां तक मैं अपनी तुच्छ बुद्धि के अनुसार समझ पाया हूं—उसमें कोई तथ्य या विचार में ऐसा नहीं पाता जिससे पुनर्जन्म की बात मानी जाय। यह तो ठीक है कि जीवन-तत्त्व (या चेतना) एक ही है, यही एक तत्त्व अनेक रूपों में बार बार प्रकट होता रहता है—किंतु ऐसा नहीं कि एक प्राणी में स्थित जीवन तत्त्व उस प्राणी के व्यक्तित्त्व को साथ लिये हुए, मानो उसी प्राणी के रुप में पुनर्जन्म प्राप्त करलेता हो। उस प्राणी के व्यक्तित्त्व के लक्षण बीज-कोपों द्वारा उसकी संतान में तो चले आते हैं, किन्तु वही प्राणी फिर नहीं आता। यह तो मानो एक चेतना-महासागर है—अनंत लहरें उसमें उठती रहती हैं, किन्तु लहर जो एक बार उठ चुकी होती है, वही लहर दुबारा नहीं उठती। इसी बात को वैज्ञानिक भाषा में यों कहा जा सकता है कि एक ही प्राण-तत्त्व के विशिष्ट क्षुद्र कोप से समस्त प्राणी जगत् की सृष्टि हुई है। कोई भी विशिष्ट प्राणी एक या अनेक जीवकोपों का बना हुआ है, उस प्राणी में एक विशिष्ट प्रकार के कोप तथा बीजकोप भी होते हैं। इन्हीं कोपों में वंश-लक्षण बीज (Genes) होते हैं, और येही वंश-लक्षण बीज सन्तान के बीजकोपों में पिता और माता के बीजकोपों से प्राय: ज्यों के त्यों चले आते हैं। इस प्रकार जातीय (Pertaining to Species) गुणों का पुनर्जन्म, एवं वंश-लक्षण बीजों के विभिन्न मिश्रणों से वैयक्तिक गुणों का नवीन उद्भव होता रहता है;—किंतु वही जीव या व्यक्ति फिर नहीं आता। एक ही आदिजीव (तत्त्व) भिन्न भिन्न रुपों में प्रकट हुआ है, प्रकट होता रहता है, उसी एक तत्त्व का पुनर्जन्म होता रहता है, किंतु व्यक्ति-विशेष का नहीं।

पौर्वात्य संस्कृति के उपासक, पौर्वात्य कला के उद्भट विद्वान, हिंदू धर्म और दर्शन शास्त्र के परम पंडित और भक्त श्री आनंदकुमार स्वामी स्वयं का यह निष्कर्ष है:—

"पुनर्जन्म कोई पुराना भारतीय सिद्धान्त नहीं यह तो लोक प्रचलित एक विश्वास मात्र है।"[1] इसी पुस्तक में डा० वी०सी० ला की पुस्तक "कनसेप्ट्स ऑफ वुद्धिज्म" (१६३७) पृष्ठ ४५ का उद्धरण वे देते हैं :—"इसमें कोई संदेह नहीं कि वौद्ध विचारक इस वात का खंडन करता है कि जीव एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता हो।" आगे फिर आनंद कुमारस्वामी लिखते हैं, "यदि हम श्रीकृष्ण को अर्जुन से एवं वुद्ध को अपने भिक्षु से यह कहते हुए पाते हैं कि 'लम्वा मार्ग हमने तय किया है, और अनेक जन्म हैं जो मैंने और तुमने लिये हैं' तो इसका संकेत तत्त्व के वहुत्व की ओर नहीं किंतु प्रत्येक प्राणी में स्थित एक ही सर्वात्म की ओर है।" उनका मानना है कि "भारतीय, इस्लामिक, ग्रीक—सव पुरातन शास्त्र-वाक्य जो व्यक्ति के पुनर्जन्म की वात कहते प्रतीत हों, उनका यही तात्त्विक अर्थ लेना चाहिये कि उनका संकेत सव में व्याप्त केवल एक ही सर्वात्म तत्त्व की ओर है।"[2]

वस्तुत : लोक प्रचलित पुनर्जन्म और उस पर आधारित कर्मवाद के विश्वास ने मानव को (विशेषतया भारतीय जन को) पिछले कई हजार वर्षों से इतना भयातुर और उसकी चेतना को इतना जड़वत् बनाकर रक्खा है कि इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। सिवाय इसके कि इस विश्वास ने पुरोहितों, पंडितों एवं समाज में सत्तायुक्त वर्ग को जाने अनजाने अपना उल्लू सीधा करने में मदद दी हो, न तो इसने किसी के हृदय या मन को कभी मुक्त आनंद की अनुभूति होने दी है, न समाज का ही किसी रूप में कल्याण होने दिया है और न सन्मार्ग की ओर

---

1. Anand K. Comarswamy : "Reincarnation-as currently understood to mean the return of the individual souls to other bodies here on earth—is not an orthodox Indian doctrine, but a popular belief."—In his essay on : "Gradation, Evolution & Reincarnation"- quoted from his book "The Bugbear of Literacy" Publishers Dennis Dobson Ltd. London 1949. Page 56.
2. Discussion on Science & Religion in the same book. Page 122—130.

साधारणतया किसी को प्रेरित किया है। इस अन्ध विश्वास के निविड़ अन्धकार में कोटि कोटि जन शत शत वर्षों से भयभीत रहे हैं। उनके मानस और चेतना पर एक पहाड़सा भार रहा है, वे मुक्त हो हिल नहीं पाये हैं, प्रकाश पा निर्भय हो खिलखिला नहीं पाये हैं।

× × × ×

ज्ञान विज्ञान के प्रकाश में मानव मन मुक्त हो, वह गतिशील हो,–प्रगति कि अनंत संभावनायें उसके सामने हैं–इसी भावना से प्रेरित हो इस पुस्तक में विचार किया गया है इस युग के मानव के सामने प्रस्तुत होने वाली भिन्नभिन्न कुछ समस्याओं पर। संगृहीत लेखों में विषय और शैली की विभिन्नता मिलेगी, किन्तु उन सबके मूल में मिलेगी चेतना को मुक्त करने की एक भावना और सचाई को ढूंढने की एक इच्छा।

× × × ×

१ से ६ लेख जीवन और समाज के आर्थिक पहलू से संबन्धित लेख हैं. जिनके अन्त में यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि सामाजिक आर्थिक संगठन चाहे कितना ही उत्तम और व्यवस्थित हो किन्तु अंततोगत्वा सफलता की कुंजी मानव की त्याग भावना, आधुनिक शब्दों में 'व्यक्ति की समाज के प्रति उत्तरदायित्व की भावना' में निहित है; और शिक्षा पर आज सबसे अधिक जिम्मेदारी इसी बात की है कि वह मानव में 'सामाजिक व्यक्तित्व' का विकास करे।

७ से ६, जीवन के सामाजिक और धार्मिक पहलू से संबन्धित लेख हैं जिनमें यह बतलाने का प्रयत्न किया गया है कि जीवन के समस्त सामाजिक प्रश्नों के प्रति हमें एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाना चाहिये, गतानुगत, संस्कारगत अथवा धार्मिक दृष्टिकोण नहीं। धर्म तो हृदय की एक वस्तु है जिसकी मधुरता की अनुभूति व्यक्तिशः हमें अपने हृदय-लोक अथवा भाव-लोक में करनी चाहिये। १० वां एक साहित्यिक लेख है जिसमें यह बतलाने की चेष्टा की गई है कि साहित्यकार को युग का बोधदाता और विकास की दिशा का इङ्गित करने वाला होना चाहिये; परंतु ऐसा नहीं हो सकता, यदि वह अपने आपको ज्ञान-

विज्ञान की प्राचीन काल से लेकर आज तक की उपलब्धियों से, उसकी धारा से परिचित नहीं रखता हो। उसमें वह विशाल दृष्टिकोण और धारयित्री शक्ति होनी चाहिये कि वह ज्ञान विज्ञान के सार तत्त्व को सहज आत्मसात करता चले, और वह कर्तृत्व शक्ति (रचना शक्ति) होनी चाहिये कि मानव एवं समाज विकास की दिशा का आभास दे सके—अपनी कला द्वारा।

११ वें से १४ वें लेखों में मानव और विश्व-विकास की दिशा का कुछ आभास मिलेगा। इसी क्रम के अन्तिम लेख "पूर्ण विकसित मानव" में यह देखने को मिलेगा कि सृष्टि विकास के अगले चरण की प्रत्यक्ष अनुभूति मानो मानव ने करली है और उसकी ओर वह सचेष्ट प्रवृत्त भी है।

× × × ×

मित्र श्री परमेश्वर वगड़का की "चेतना" के विना, जिसने मुझसे लिखवाया, और हम दोनों के कॉमन मित्र श्री आत्माराम ज़ाजोदिया एवं श्री वालमुकन्द अग्रवाल की "खटपट" के विना, जो मेरे लिए साधन और साहस एकत्रित करते रहे, मेरी ये वातें मैं प्रस्तुत नहीं कर सकता था। ये वातें अपूर्ण या ग़लत हो सकती हैं, किन्तु झूठी नहीं-झूठी इस अर्थ में कि किसी प्रचलित विचार या विश्वास के विरोध में अपना स्वयं का विचार सत्य सिद्ध करने के लिए मैंने कोई भी वात विना अनुभव और प्रत्यक्ष किये यों ही लिखडाली हो।

मेरी चेतना कम या अधिक जैसी भी विकसित हो किन्तु उसने जैसा भी जाना और अनुभव किया वैसा का वैसा रखने में मैंने पूरी सावधानी और सचाई वरती है। संभव है मेरी चेतना वहुत कम विकसित हो किन्तु पर्याप्त सीमा तक इसको मैं निर्भय और मुक्त मानता हूं—कारण कि जो विचार और विश्वास मेरे वने हैं उनमें मुझे सच्ची निर्भयता और मुक्ति की अनुभूति हुई है, उनसे मेरा अंतस खिला है, प्रकृति-माया की गति के साथ गतिमान मैंने उनको पाया है।

वनस्थली
१३–५–५२

—रामेश्वर गुप्ता

आज की मूल समस्या

देश के सामने समस्या है—अन्न-वस्त्र की, बेकारी की, भविष्य की अनिश्चितता की, आवश्यक वस्तुओं में बढ़ते जाते हुए मूल्य और साथ साथ मुद्रा प्रसार की, औद्योगिक विकास की, काश्मीर एवं पाकिस्तान की, और फिर रूस और अमेरिका की; फिर समस्यायें हैं अणुबम की, युद्ध की—शान्ति की। साधारण से साधारण मनुष्य भी कितने ही दूर गांव में रहने वाला हो, कितना ही निरीह, अल्पज्ञ और साधु अनासक्त हो...ये समस्यायें उसे आ घेरती हैं और दबोच डालती हैं। फिक्र से, भय से, कोई मुक्त नहीं। तरक्की के जमाने में, विकसित सभ्यता के युग में, यह जीवन कैसा ?

ये समस्यायें एकदेशीय नहीं। बहुत सी समस्यायें सर्वदेशीय हैं। इन समस्याओं से उत्पन्न कुछ न कुछ डर हर देश में हर आदमी की स्वाभाविक अन्तःस्फूर्ति को, प्रकाश एवं आनन्द को, बरबस दबाए हुए है। रूस में भी जहां लोग कहते हैं साम्यवाद है, अमेरीका में भी जो एक बहुत ही धनी देश है और जहां लोग कहते हैं मजदूर भी अपनी स्वयं की मोटर में घूमता है और घर पर अपना स्वयं का रेडियो रखता है, मनुष्य आशंकित है, उसकी स्नायुओं पर कोई दबाव है और वह स्वतंत्र आनन्द का उपभोक्ता नहीं। परिस्थिति विचारणीय अवश्य है। किन्तु यह भी निश्चित है कि इन समस्याओं का कोई तात्कालिक हल नहीं है। तात्कालिक क्या, निकट भविष्य में भी कोई समाधान नहीं। ऐसी भी बात नहीं कि प्रत्येक युग में समस्यायें इतनी ही कठिन रही हों, और उन्होंने मानव की चेतना और सहज आनन्द को इतना अधिक कुंठित कर दिया हो। माना प्रत्येक युग की अपनी अपनी समस्याएं होती हैं—समस्या से खाली कोई युग नहीं, किन्तु आनन्द किन्ही समस्याओं वश मनुष्य की चेतना से इतना ओझल

हो गया हो, पहले स्यात कभी देखने में नहीं आया। भारत के प्राचीन स्वर्ण काल एवं मध्य युग के अच्छे राजाओं के जमानों को जाने दें, किन्तु हर मुसलमान बादशाह के काल में और अंग्रेजी काल में भी सर्व साधारण चाहे गरीब रहा हो किन्तु इन बातों से वह इतना दबा हुआ और त्रासित नहीं था जितना कि आज की समस्याओं से है। इङ्गलेंड के भी ऐलिजबेथ के जमाने को जाने दें जब देश वहां के लोगों के लिए मानों एक प्रफुल्ल खेल का मैदान "A happy play-ground" था, विक्टोरियन युग को भी जाने दें जब देश आशा-पूर्ण भावनाओं में मग्न था; किन्तु पहिले महायुद्ध एवं उसके बाद के काल में भी वहां का साधारण जन इतना भयभीत और दबा हुआ नहीं था जितना आजाये ऐतिहासिक सच्चाइयां हैं।

समस्यायें बहुत हैं—बहुत कठिन भी हैं—इनकी बीहड़ता में से होकर सफलता पूर्वक गुजर जाने का एवं निर्भयता, सुख, स्वतंत्रता एवं प्रफुल्ल चेतना के क्षेत्र को पा लेने का कोई व्यावहारिक दृष्टि से तात्कालिक और स्पष्ट रास्ता भी नहीं—तो क्या होगा? वैसे तात्कालिक रास्ते बतलाने को बतलाये तो जा सकते हैं। इंगलेंड और सब यूरोपीय देशों में मंहगाई है, आवश्यक भोजन नहीं मिलता, इधर हिन्दुस्तान, एवं अन्य ऐशियायी देशों में भी यही बात है। अधिक उत्पादन करने के अनेक वैज्ञानिक प्रयोगों के होते हुए भी कुल मिलाकर इतना उत्पादन अभी बढ़ नहीं पाया है कि सब देशों के सभी लोग आवश्यकतानुसार अच्छी तरह से खा पी सकें और मंहगाई से बच सकें। तो सोचने की बात है कि आखिर दुनियां में इतने आदमियों की जरूरत ही क्या है। क्यों नहीं विशाल पैमाने पर संतति-निरोध चालू कर दिया जाता, जन संख्या एकदम कम कर दी जाती जिससे जो लोग पीछे बचें वे तो आराम से, निश्चिन्तता से खा पी सकें। फिर तात्कालिक उपायों की दृष्टि से अणु बम, युद्ध और शांति का प्रश्न लीजिये। क्यों नहीं श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णनन् को रूस में सर्वाधिकार दे दिये जाते कि वे रूस में अणु बम एवं बायलोजिकल (Biological) युद्ध के साधनों से सम्बन्धित सब प्रयोगशालाओं एवं कारखानों को तुरंत नष्ट करवा

दें; एवं क्यों नहीं, अन्य राजदूतों को ऐसे ही सर्वाधिकार इंगलैंड और अमेरिका में दे दिये जाते और इस प्रकार इन भयंकर विध्वंसक चीजों के डर से मानव को मुक्त कर दिया जाता? बातें सीधी हैं, किन्तु इनको माने कौन और करे कौन? दिखती सी बात है—आज की दुनिया मे ये बातें व्यावहारिक नहीं। तो फिर प्रश्न यही रहा कि समस्याओं में से पार पा जाने का आखिर कोई स्पष्ट व्यावहारिक रास्ता है या नहीं। वास्तव में इस समय विश्व के लोगों की मनः स्थिति एक अजीब से भँवर में फँसी हुई है। मनुष्य किंकर्त्तव्यविमूढ़ है। किसी को कुछ भी स्पष्ट समझ में नहीं आता। भारी, उन्मनी परिस्थितियों में अपने आपको पिसते हुए पाकर कोई तो कहते हैं—कलियुग है क्या करें! कोई कहते हैं अपना अपना भाग्य, ईश्वर की मर्जी, मनुष्य इसमें क्या करे। कोई कहते हैं विज्ञान और मशीन ने यह सब किया है, कोई कहते हैं यह साम्य-वाद का आतंक है और कोई कहते हैं इन सब दुःखों की जड़ में पूंजीवाद है इसको तुरन्त खत्म कर देना चाहिये। कुछ लोग कहते हैं मानव का नैतिक एवम् आध्यात्मिक पतन हो चुका है इसीलिये यह सब दुःख है—इत्यादि।

आपने देखा होगा समस्याओं की बात करते करते हम उन समस्याओं के कारणों की चर्चा पर आ गये हैं। इन समस्याओं के मूल में क्या कारण है, इसी का हमें पता लग जाये तो यह समझ लेना चाहिये मानो आधी समस्या तो हल हो गई, या अज्ञानवश मन पर जो धुन्धलापन, जो भारीपन था वह तो कम से कम दूर हुआ। इस सम्बन्ध में एक बात मुझे याद आती है। एक सुशिक्षित नव-युवक था—मस्त, प्रफुल्ल, आशावादी, सतत क्रिया-शील, किंतु था अभी अविवाहित। अचानक पता नहीं उसको क्या हुआ—एक गुमसुमपना उस पर छा गया, स्वाभाविक प्रफुल्लता, क्रियाशीलता सब दब गई, वह एकांत प्रेमी हो गया—जीवन से निराश सा। वह भौंचक्का था, उसे समझ में नहीं आ रहा था किस अज्ञात वस्तु ने आकर उसमें अचानक यह परिवर्तन कर डाला है। वह अपने एक मित्र के सम्पर्क में आया जो मानसवेत्ता था।—जब उसके सामने उस परिवर्तित मनःस्थिति की कहानी आई तो वह

मित्र युवक से कहने लगा, अरे बस यही बात है। इन सब के मूल में तुम्हारी अनभिव्यक्त यौन प्रेरणा है। तुम विवाह कर डालो और सब ठीक हो जायेगा।" युवक कारण समझा और स्वयं बहुत आश्चर्य करने लगा कि इतनी सी बात ने उसको इतना बदल डाला था—इतना दबा दिया था। कारण समझ लेने पर उसे शांति हुई, उसे चैन मिला। उसने विवाह नहीं किया किन्तु उसकी स्वाभाविक प्रफुल्लता, क्रियाशीलता फिर से उसमें लौट आई। समस्या का केवल सही कारण समझ लेने पर मानो उसकी समस्या का हल हो गया, और उसकी बेचैनी और अशांति जाती रही।

समस्यायें हैं, यह तो वस्तु स्थिति है ही—प्रत्यक्ष है—इसको कोई इंकार नहीं कर सकता। किंतु, जब समस्याओं का कारण ढूंढ़ने लगते हैं तो बात प्रत्यक्ष वस्तुस्थिति के क्षेत्र से निकल कर विचारात्मक क्षेत्र में आजाती है, और वहीं आपके और हमारे विचारों में विभिन्नता हो सकती है। कुछ लोग कहेंगे मनुष्य का यह सोचना ही बेकार है कि हमारी विषम समस्याओं एवम् दुःखों के मूल में कारण क्या है, अरे यह तो ईश्वर की करनी है जिसकी मर्जी के बिना एक पत्ता भी हिल नहीं सकता, इसमें हम और आप क्या करें। या आप कहेंगे कि यह तो हमारे पूर्व जन्म के कृत्यों का अवश्यंभावी फल है—इसमें आप और हम क्या करें। यह है एक प्रकार का धर्म-प्रधान दृष्टिकोण, शताब्दियों से चला आता हुआ, ज्ञान या अज्ञान वश जन साधारण में प्रचलित। ऐसा दृष्टिकोण जो यह मानकर चलता है कि जो कुछ होता है वह ईश्वर की इच्छा से, भाग्य या नियति से या पूर्वभव के कर्मों से। फिर हम कहेंगे—ये तो सब आप पुराने जमाने की बातें कर रहे हैं—आप जब बीमार पड़ जाते हैं तो क्या इस भरोसे कि जो कुछ ईश्वर करेगा वही होगा, जो भाग्य में बदा होगा वही बन कर रहेगा,—आप अपना उपचार करना छोड़ देते हैं? क्या कुछ यूरोपीय देशों ने "माता निकलने की बीमारी" (Small pox) का अचूक उपचार ढूंढ़ कर उस बीमारी को ही अपने देशों से बिल्कुल नेस्तोनाबूद नहीं कर दिया है? क्या कुछ लोगों ने अपने देशों में ऐसा सामाजिक संगठन नहीं कर लिया

तो अन्त में मेरे प्राण भी लेलें। आज दुनियां में सबसे बड़ा यही संघर्ष चल रहा है। दो गुटों में दुनिया बंटती हुई मालूम पड़ती है। एक गुट का किसी एक प्रकार की व्यवस्था या ढंग विशेष से काम करने के प्रति आग्रह है, तो दूसरे गुट का किसी दूसरे प्रकार की व्यवस्था या ढंग विशेष से काम करने के प्रति आग्रह है। एक गुट का प्रतिनिधि हम रूस को मान लेते हैं, और दूसरे गुट का प्रतिनिधि अमेरिका को। अमेरिका कहता है हमारा पूर्व प्रचलित स्वतंत्र पूंजीवादी ढंग अच्छा है, रूस कहता है हमारा नव-स्थापित समाजवादी ढंग अच्छा है। इन दो प्रकार की व्यवस्थाओं या तरीकों में से किस को चुनें यह भी आज किसी भी व्यक्ति के सामने एक समस्या बनी हुई है और परिस्थितियाँ उसे मजबूर कर रही हैं कि इन दो में से किसी एक के पक्ष में अपना निर्णय बनाले।

इस संबंध में निर्णय बनाने के पूर्व तो यह प्रश्न आता है कि मनुष्य इस समस्या की ओर कौनसे दृष्टिकोण से देखे—उपरोक्त तथाकथित धार्मिक दृष्टिकोण से या वैज्ञानिक दृष्टिकोण से। यदि वह धार्मिक दृष्टिकोण से देखता है यथा, ईश्वर को जो कुछ करना है वह कर देगा, भाग्य या नियति में जो कुछ वदा है वह हो जायगा; तो उसे तो कुछ निर्णय करना बाकी ही नहीं रहा—जो कुछ उसके जीवन में, समाज और दुनिया के जीवन में होना है सो हो जायगा, "अपनी बला से"। यदि ऐसा निःसंग, अनासक्त और निश्चिंत कोई आदमी है तो उससे तो कुछ नहीं कहना। किंतु यदि मनुष्य वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखता है तो उसे इतिहास, प्राकृतिक-सामाजिक परिस्थितियों, कार्य कारण संबंधों एवं मानसिक-मनोवैज्ञानिक शक्तियों का पूर्णतम विश्लेषण करके अपना निर्णय बनाना होगा। इस विश्लेषण में सहायता करने के लिये हम दो मान्यतायें प्रस्तुत करते हैं जो प्रायः सर्वमान्य हैं। यदि आप चाहें तो उपरोक्त संबंध में अपना निर्णय बनाने के लिये इन मान्यताओं को अपना मानदण्ड या क्राइटेरियन मानकर चल सकते हैं।

(१) सृष्टि के पदार्थों में जीव और प्राणियों में, विभिन्नता है। यह विभिन्नता होते हुए भी सृष्टि की स्थिति एवम् इसका अस्तित्व बना

हुआ है। यह भी दिखता है कि जब तक सृष्टि का अस्तित्व रहेगा तब तक पदार्थ, जीव एवम् प्राणी में विभिन्नता बनी रहेगी;—एवम् उनकी इच्छाओं, विचारों और भावनाओं में भी विभिन्नता रहेगी। सब प्राणी आनन्द की अनुभूति चाहते हैं। यह आनन्द की अनुभूति बहुत हद तक प्राणी के विचार और भावनाओं की पूर्ति पर निर्भर करती है। यदि हम मानव की चेतना (Consciousness) के आनन्द को, मानव जाति को, मिटाना नहीं चाहते हैं तो हमें अपने विचार और भावनाओं का आरोप जबरदस्ती दूसरों पर नहीं करना चाहिये। जिस प्रकार हम अपनी चेतना में स्फुटित विचार और भावनाओं की अभिव्यक्ति करना चाहते हैं, दूसरों को भी अवकाश और स्वतंत्रता मिलनी चाहिये कि वे अपने विचार और भावनाओं की भी अभिव्यक्ति कर सकें। विभिन्नता में आनंद का अस्तित्व बना रहता है। अपने जीवन को, विचार एवम् भावनाओं को, एक संकड़ी पटरी पर सीमित कर देने में, जीवन विचार और भावनाओं के बरबस प्रतिबंध (Regimentation) में, आनंद नहीं। व्यक्ति की चेतना, व्यक्ति का व्यक्तित्व एक अद्भुत वस्तु है, इसका आदर होना चाहिये, इसके विकास के लिये स्वतंत्र वातावरण मिलना चाहिये।

(२) दूसरी मान्यता यह है कि सृष्टि परिवर्तनशील है। यह स्थिर नहीं गत्यात्मक है। परिस्थितियाँ परिवर्तनशील हैं, गतिशील हैं। समाज परिवर्तनशील है, गतिशील है। गति रुकती नहीं, परिवर्तन रुकता नहीं। यहाँ तक कि जब कभी तीव्र गत्यावरोध होने लगता है तो विस्फोट हो जाता है। स्वतंत्र आदिम साम्यवाद धीरे धीरे दासता और सामंतवाद में परिवर्तित हुआ, स्वार्थी बनकर सामंतवाद ने जब समाज की गति को रोका तो विस्फोट होकर उत्पन्न हुआ व्यक्ति स्वातंत्र्य, जिसका वर्तमान संगठित रूप है—पूंजीवाद। तो समाज गतिशील है, इतिहास भी इसका साक्षी है।

अब फिर हम उपरोक्त दो गुटों की बात लें, पूंजीवादी अमेरिका और समाजवादी रूस की। अमेरिका से पूछो क्यों भाई तुम्हारा ढंग, तुम्हारी व्यवस्था व्यक्तित्व के प्रति आदर और व्यक्ति स्वातंत्र्य की भावना पर आधारित है? झट कहता है—'हमारे जनतंत्र के मूल में

ये ही तो भावनायें हैं।' रूस से यह प्रश्न करो—वह भी झट कहता है : 'सच्चा व्यक्ति स्वातंत्र्य तो हमारे यहाँ ही है, व्यक्तित्व के विकास की पूर्ण परिस्थितियाँ तो हमारे यहाँ ही हैं, हमारा ही जनतंत्र तो सच्चा जनतंत्र है।' फिर रूस से पूछो क्यों भाई तुम्हारे यहाँ की व्यवस्था गतिशील है, प्रगतिशील है? तो रूस कहता है 'हमारे दर्शन का ही मूल सिद्धान्त गत्यात्मकता है। यदि हमारी ही व्यवस्था गत्यात्मक, गतिशील नहीं है तो और कौनसी व्यवस्था ऐसी होगी? अमेरिका से यह प्रश्न करो तो वह झट कहता है—'रूस की व्यवस्था तो जकड़ी हुई (Regimented) है, उसका विकास अवरुद्ध है, स्वतंत्र विकास-मान तो हमारी व्यवस्था है।'

आज की ये बातें हैं। भूख, वेकारी, सामाजिक-आर्थिक सुरक्षा का अभाव एवं युद्ध का आतंक तो मनुष्य की स्वाभाविक अन्तः स्फूर्ति को दवाये हुए हैं हीं, किन्तु इन वातों के मूल कारण तक पहुँचने की अपनी कोशिश में भी मनुष्य इस दुविधा में पड़ा हुआ है :—

(१) कि, वह अपने वाह्य सामाजिक, जगत के व्यवहार व्यापार में किसी परोक्ष सत्ता (भगवान, भाग्य, नियति, कर्मवाद) की दखल को मानकर चले या अव तक के प्राप्त और प्रगतिशील (Known and further knowable) प्राकृतिक-सामाजिक ज्ञान-विज्ञान और अनुभव को अपने व्यवहार का आधार बनाये। अर्थात् वह उपरोक्त धार्मिक दृष्टिकोण अपनाये या वैज्ञानिक।

(२) कि, पूंजीवाद में सच्ची जनतांत्रिक स्वतंत्रता, व्यक्तित्व विकास की संभावनायें एवं गतिशीलता है या समाजवाद में।

यह दुविधा ही आज की मूल समस्या है। मानव अपना निर्णय स्वयं करले।

युद्ध ?

२० वीं शताब्दी के केवल पूर्वार्द्ध में दो महाविनाशकारी विश्व-व्यापी युद्ध हो चुके हैं। इन महायुद्धों ने मानव के मस्तिष्क को खदेड़ दिया है—मानव प्रश्न-सूचक दृष्टि से देखने और सोचने लगा है कि यह युद्ध की समस्या क्या ? मानव के जीवन, उसके सहज स्नेह का मूल्य क्या ?

इसी पर विचार करना है :—

मानव समाज में विरोध और युद्ध के कारण, समय-समय पर सामाजिक विकास की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में, भिन्न-भिन्न रहे हैं।

मानव इतिहास के प्रारंभिक युग में हम भिन्न भिन्न प्रदेशों में लोगों को प्राय: अपने पूर्वजों के नाम पर निर्मित छोटी छोटी समूहगत जातियों (Tribes and clans) में विभक्त पाते हैं, जिस जातिगत भेद भाव की वजह से वे परस्पर लड़ते रहे ;—

फिर मानव इतिहास के प्राचीन युग में, ग्रीस के अलक्षेन्द्र, रोम के सीजर, ईरान के दारा, भारत के चन्द्रगुप्त और समुद्रगुप्त, चीन के तांग वंश के ली-शीह-मिन महान योद्धा और विजेता, युद्ध में प्रविष्ट हुए मुख्यत: शुद्ध पराक्रम और विजय की भावना से ;

फिर ज्यों ज्यों हम आधुनिक काल के निकट आते जाते हैं हम युद्ध के कारण क्रमश: मुख्यत: निम्न बातों में निहित पाते हैं—

(१) धार्मिक भेद-भाव

(२) जाति-राष्ट्रगत भेद-भाव

(३) राजनैतिक-आर्थिक मान्यताओं में भेद-भाव।

मध्ययुग में युद्ध के कारण मुख्यत: धर्मगत भेदभाव रहे, जैसे ७ वीं ८ वीं सदियों में इस्लाम के प्रसार के लिए युद्ध; १२ वीं १४ वीं सदियों

मनुष्य की अनैतिकता और चिंता का मूल कारण

मैं मानता हूँ कि आज मनुष्य की अनैतिकता और चिंता का मूल कारण समाज में प्रचलित व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा है। इस बात का विवेचन करने के पूर्व व्यतिगत सम्पत्ति का अर्थ स्पष्ट होना चाहिये। यहाँ पर व्यक्तिगत सम्पत्ति का अर्थ वह सब भूमि, उत्पादक मशीनरी, भूगर्भ स्थित खनिज-पदार्थ, बैंक, बीमा-कंपनी एवं अन्य साख संस्थायें हैं जिनपर किसी एक व्यक्ति या कुछेक व्यक्तियों की बनी कंपनियों का स्वामित्व और प्रभुत्व है, सामूहिक रुप से सम्पूर्ण समाज का नहीं; एवं वह घर-मकान और ऐसा धन है जो मृत्यु के उपरान्त संतानों को पैतृक सम्पति के रूप में देने के आशय से संग्रह किया जाता है। इस परिभाषा में उस व्यक्तिगत धन का समावेश नहीं है जो व्यक्ति की दैनिक उपभोग्य वस्तुयें हैं—जैसे भोजन-वस्त्र, व्यक्तिगत रुचि की वस्तुयें आदि, और व्यक्ति का वह नक़द रुपया (या किसी भी रूप में धन) जिसका जीवित रहते वह अपने, अपने कुटुम्बियों या मित्र मंडली आदि के लिये किसी भी प्रकार उपयोग करता हो, सिवाय दूसरों को नौकर बनाकर उस रुपये या धन द्वारा और धन का उत्पादन करने में। संक्षेप में : मैं यही कह रहा हूँ कि उपरोक्त अर्थ में दैनिक उपभोग की वस्तुओं को छोड़कर सम्पत्ति या धन उत्पादन के साधनों पर आज जो व्यक्तिगत अधिकार है, सामाजिक अधिकार नहीं—वही मनुष्य की चिंता और अनैतिकता का मूल कारण है। पहिले चिंता की बात लें, साथ ही साथ अनैतिकता की भी बात आजायगी।

मनुष्य जीवन का प्रसार त्रि-दिशात्मक है। उसका सम्पर्क अपने से, अपने अन्तर्लोक से है, फिर उसका सम्पर्क बाह्य प्रकृति से है, और फिर

समाज से ; अतः उसकी चिंता के कारणों का वर्गीकरण तीन क्षेत्रों में हो सकता है :—

(१) आध्यात्मिक, जैसे अपनी अन्तर्वृत्तियों और प्रेरणाओं में सामंजस्य स्थापित न कर सकना, इत्यादि ।

(२) प्राकृतिक, जैसे अकस्मात पीड़ित हो जाना, बीमार पड़ जाना, मृत्यु का भय ।

(३) सामाजिक, जैसे कमाई के साधनों का अभाव, बुढ़ापे और बीमारी में आराम के उचित साधनों का अभाव, ग़रीबी, भूख, बेरोजगारी और इनका भय, एवं सामाजिक असमानता से उत्पन्न द्वेष और वैर की भावनाओं से दिल जलना ; युद्ध, इत्यादि ।

तीनों प्रकार के ये कारण स्वतंत्र, निरपेक्ष नहीं; सब एक दूसरे पर आधारित, सापेक्ष हैं । तथापि मनुष्य की अधिकतम चिंताओं का कारण सामाजिक होता है, क्योंकि व्यक्ति को अन्ततोगत्वा समाज में तो रहना ही है, उसका पूर्णतः न सही अधिकांश जीवन तो सामाजिक ही है ; एवं यह भी सिद्ध हुआ है कि उचित सामाजिक व्यवस्था और संगठन होने से चिंता के प्राकृतिक कारणों की संभावनाओं को भी एक सीमा तक कम किया जा सकता है और उचित सामाजिक व्यवस्था आध्यात्मिक विकास में भी सहायक बनाई जा सकती है । अतः मनुष्य के जीवन में उल्लास भरने के लिये, सामाजिक पृष्ठ-भूमि में स्थित चिंता का मूल कारण चिंता के अन्य कारणों से अधिक विचारणीय है ।

चिंता के सामाजिक कारण के मूल में क्या है इसी का पता लगाना है । हमारा अपना देश और समाज ही हमारे अधिकतम निकट है और हमें अपने ही देश और समाज की विशेष जानकारी होती है । अतः इन्हीं को विशेष ध्यान में रख कर हम उपरोक्त बात का विवेचन करेंगे । भारतीय समाज के प्रायः तीन वर्ग हैं :—उच्चवर्ग, मध्यम वर्ग और निम्न वर्ग । अधिकतम जन-समुदाय (कुल जनसंख्या के लगभग ९२ प्रतिशत से भी अधिक लोग) निम्न वर्ग में हैं । ये लोग छोटे या बड़े खेतों के मालिक-किसान हैं, या खेतीहर मजदूर हैं जो किसी खेत के मालिक नहीं हैं केवल खेतों के मालिक-किसानों या बड़े जमींदारों

के खेतों पर मजदूरी करके अपना पेट पालते हैं; छोटे बड़े कारखानों में मजदूरी करने वाले या हरेक प्रकार की अन्य मज़दूरी करने वाले मजदूर हैं। ये लोग सब ग़रीब हैं—बहुत ग़रीब। इनकी चेतना का स्तर प्रायः पशुवत है, क्योंकि कोई शिक्षा नहीं कोई जिज्ञासा नहीं, जीवन में कला का प्रायः अभाव। कवियों को इनके जीवन में संतोष और सादगी नज़र आती हो, किंतु वह सब सादगी और संतोष तामसिक है—अज्ञान और बेबसी का संतोष है। जैसे गुलामों को गुलाम रहते रहते यह भान ही नहीं रहता कि वे गुलाम हैं मानो अपनी गुलामी में ही उन्हें संतोष है। इस वर्ग के लोगों में ——संतुलित भोजन किसी को उपलब्ध नहीं, केवल इतना ही नहीं वरन् अधिकतर आधे भूखे, मैले फटे-पुराने कपड़े पहिने, रहने के लिये असभ्य युगीय वे ही कच्ची या फूस की 'पर्णशालायें" । सबके मुंह पर गंदगी और मायूसी छाई हुई——चिंता की चुप्पी और छाया। कारण ? यदि भूमि पर जमींदार का व्यक्तिगत स्वामित्व है तो मेहनत-मेहनत तो मजदूरों की, धन-धन जमींदार का; अतः एक धनी जमींदार के पीछे सैंकड़ों बल्कि हजारों खेती-हर मजदूर ग़रीब, उल्लासहीन। यदि भूमि पर स्वामित्व खुद किसान का है तो वह भी एक तरह का छोटा जमींदार,——चाहे ग़रीब। संतानों में पैतृक सम्पत्ति के कानूनन बंटवारे के फलस्वरूप किसान की जमीन अब छोटी सी, जमीन के ही प्रश्न को लेकर भाइयों में रोज की कलह और मुक़दमे,—परिणाम अशांति और ग़रीबी; खेत छोटा होने की वजह से बड़े पैमाने पर सामूहिक खेती असंभव, वैज्ञानिक साधनों का उपयोग असंभव,——परिणाम ग़रीबी। यदि उसी जमींदार-किसान से सामूहिक या सहकारी खेती की बात की जाय, तो परंपरानुगत अपने खेत से वह इतना कसकर चिपका हुआ, जैसे विकृत रक्त पर जोंक; छोड़ने के लिये बिल्कुल भी तैय्यार नहीं। भू-स्वामित्व की भावना ने उसे एकदम स्वार्थी और व्यक्तिवादी बना रखा है। यह तो हुई भू-पति किसानों की बात किंतु इतने ही या इससे भी अधिक करोड़ों ऐसे खेतीहर मजदूर हैं जो बड़े जमींदारों या इन्हीं उपरोक्त भू-पति किसानों पर आश्रित हैं। बड़ा जमींदार उनको चूसता है, छोटा

किसान उनको दे ही क्या सकता है? इतना ही नहीं—अनेकों तो वर्ष भर और अनेकों वर्ष में कई महीने सर्वथा बेकार रहते हैं। शहरों में उन्हें काम नहीं मिलता, वहाँ कारखानों में मालिक लोग पहिले ही से मजदूर कम करने की फिराक में रहते हैं। शहरों के यांत्रिक उद्योगों की ओर देखना छोड़कर वे अपने ही किसी हस्त उद्योग या कुटीर उद्योग में लगें तो पहिले तो साधन नहीं, साधन मिल जायें तो उनकी चीजों की बिक्री नहीं। यंत्रयुग में यंत्रोत्पादित अपेक्षाकृत बहुत सस्ती और अच्छी चीज के सामने उनकी चीजों को कौन खरीदता है? क्या यह एक तथ्य नहीं? कौन खद्दर पहिनता है? कौन हाथ का बना कागज उपयोग में लाता है? गृह-कुटीर उद्योगों का करोड़ों का माल योंही सड़ता रहता है—गांधीजी की दुहाई देने वाली कांग्रेस सरकार होते हुए भी। या आप यंत्र युग को ही खत्म कर देंगे? ठीक है, एक रास्ता यह है—किंतु याद रहे इतिहास कभी पीछे नहीं मुड़ता, वह तो आगे बढ़ता है।

तो करोड़ करोड़ जन की इस उल्लास-हीनता, इस गरीबी और बेकारी के मूल, इस मायूसी, इस चिंता के मूल में अब आपने देखा क्या है? भगवान की भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व,—जिसकी मूल प्रेरणा है व्यक्तिगत लाभ, स्वार्थ, न कि समाजहित,—ऐसी प्रणाली जो सहकार और सहयोग से काम नहीं होने देती। और इसका इलाज?—सर्वत्र जहाँ कहीं भी जमींदार का व्यक्तिगत स्वामित्व हो, किसान का स्वामित्व हो, उसको समूल उखाड़ कर, भगवान की भूमि सबकी भूमि मानकर, ईश्वर-प्रदत्त मानवीय बुद्धि द्वारा उद्घटित वैज्ञानिक उपायों का उपयोग करते हुए, बड़े पैमाने पर सामूहिक खेती की व्यवस्था करना। इससे उत्पादन बढ़ेगा, गरीबी दूर होगी, समृद्धि के स्वाभाविक फलस्वरूप जिंदादिली आयेगी, जीवन उल्लासमय और आशान्वित होगा। सामाजिकता की इस नई पृष्ठ-भूमि में, इस नये वातावरण में प्रतिदिन की कलह, भाई भाई के कौटुम्बिक झगड़े समाप्त होंगे, व्यक्ति की स्वार्थोन्मुख वृत्ति सर्व-समाज की ओर आकृष्ट होगी, सभ्यता का नया आधार अपने अनुकूल नये मानव-स्वभाव का विकास करेगा।

पचास वर्ष पूर्व ऐसी वातें शेखचिल्ली की वहक मानी जा सकती थीं, किंतु आज नहीं। आज ये वातें प्रयोग-सिद्ध हैं, और प्रयोग से सिद्ध की जा सकती हैं।

अव मध्यम वर्ग की वात लें। इस वर्ग के लोग वहुधा छोटे मोटे स्वतंत्र व्यापार, प्रशासनिक, शैक्षणिक, औद्योगिक आदि सेवाओं में लगे हुए हैं। कुछ खुशहाल अपवादों को छोड़कर, प्रायः समस्त व्यापारी वर्ग हमेशा तेजी मंदी की हलचल से, परस्पर प्रतिस्पर्धा से (जो पूंजीवादी व्यवस्था के स्वाभाविक अंग हैं) चिंतित रहता है। तेजी मंदी की सतत हलचल और वाजार की प्रतिस्पर्धा उसके चित्त को अस्थिर रखती है, उसके जीवन में स्थायी सुरक्षा का अभाव वनाये रखती है, इसलिये उसका दिल कुछ विशेष लाभ के क्षणों को छोड़कर कभी आशा से उभर नहीं पाता। अधिकतम व्यक्तिगत लाभ उसके व्यपार की मूल प्रेरणा है, अतः वह कालासंग्रह और कालावाजार करता रहता है। गेहूं में मिट्टी, घी में तेल, मीठे तेल में सफेद तेल मिलाता रहता है। इस प्रकार वेईमानी, धोखेवाजी और खाद्य-वस्तुओं में मिलावट स्वरूप हिंसा उसके प्रतिदिन के स्वाभाविक काम हैं। मंदी उसके लिये साक्षात्कार-यम है, अतः वह हमेशा तेजी की प्रार्थना करता रहता है, इससे साधारणजन की चाहे जो कुछ भी हालत हो। इसमें दोष किसका ? व्यापारी का कतई नहीं। उसे अपना घर क़ायम रखना है, इज़्जत वनाये रखनी है, वच्चों को शिक्षा देनी है, विवाह करने हैं, और वुढ़ापे के लिये कुछ संग्रह करके रखना है,—जीवित रहना है। और जिस सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में वह रह रहा है उसमें सर्वसाधारण के लिये घातक तेजी और प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष वेईमानी के विना यह सव संभव नहीं। पाश्चात्य राष्ट्रों में जहाँ सुनते हैं व्यापार में ऐसी वेईमानी नहीं होती तो वहाँ और कुछ अनिष्ट हो जाता है। वहाँ व्यापारिक प्रतिस्पर्धा का रूप राष्ट्रों के वीच हिंसात्मक युद्ध में प्रतिफलित होता रहता है। इसका परिणाम ?—वही चिंता और अनैतिकता।

एक तरफ यदि संगठित रूप से समाज स्वयं आवश्यक वस्तुओं के वितरण का प्रवंध करदे, और दूसरी तरफ समाज सवकी शिक्षा दीक्षा

रोजगार, और आर्थिक सुरक्षा (अर्थात् बीमारी और बुढ़ापे की अवस्था में खाने पीने, रहन सहन के सुविधाजनक साधन) का प्रबंध करदे, तो उपरोक्त वर्ग की चिंता और अनैतिकता का निपटारा हो सकता है। किंतु यह सब संभव नहीं यदि उस व्यक्तिगत सम्पत्ति का जिसके आधार पर व्यापारिक वर्ग अपने व्यक्तिगत लाभ के लिये अपना व्यापार करता है, सामाजीकरण न कर दिया जाय; अर्थात् व्यक्तिगत स्वतंत्र व्यापार की जगह आवश्यक वस्तुओं के वितरण के लिये समाज अपनी ओर से सहकारिता के आधार पर किसी प्रकार की व्यवस्था करदे; एवम् समाज सबकी सुरक्षा का प्रबंध नहीं कर सकता जब तक व्यक्तिगत सम्पत्ति समस्त समाज की न मान ली जाय।

प्रशासनिक, शैक्षणिक आदि सेवाकार्यों में जो लोग लगे हुए हैं उनको अपने विषय में यह चिंता घेरे रहती है कि कहीं लगी हुई नौकरी छूट न जाय, और बच्चों के विषय में यह चिंता कि बड़े होने पर कहीं उनको नौकरी न मिले। मतलब, बेकारी का भूत उन्हें दबाये रहता है। समाज की ओर से उनको पूर्ण आश्वासन नहीं कि एक जगह छटनी (रिड्कशन) होने पर उनको हर काम करने के लिये तैय्यार होने पर भी दूसरी नौकरी मिल ही जायगी। अतः इस चिंता के साथ साथ बरबस उनकी अनैतिक कार्यवाहियों, जैसे घूसखोरी इत्यादि का दौर चलता ही रहता है।

मध्यम वर्ग की चिंता यहीं खत्म नहीं हो जाती। उनमें से जिन लोगों के पास रहने के लिये खुद के मकान हैं उनके लिये तो कुटुम्बियों में कुछ अपवादों को छोड़कर झगड़े, कलह और मुकदमे चलते रहते हैं। वह 'सम्पत्ति' सहज, सरल, मानवता का मधुर संबंध बनाये नहीं रहने देती। जिन लोगों के पास ऐसी अचल सम्पत्ति नहीं उनको प्रतिपल यह तृष्णा लगी रहती है कि उनके पास भी स्वयं का अपना मकान हो, क्योंकि उसके बिना समाज के जिस वर्ग में वे रहते हैं उसमें आदर सम्मान और प्रतिष्ठा नहीं। सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व के चक्कर में मनुष्य यह भूल जाता है कि वस्तु का महत्त्व उस पर स्वामित्व की भावना में नहीं, किंतु उसके जीवनोपयोगी उपभोग में है। समाज की जिन परंपराओं में अब तक वह रहता हुआ आया है उनमें उसको यह कल्पना

भी नहीं होती कि सम्पत्ति पर किन्हीं लोगों का व्यक्तिगत अधिकार दूर होने पर सामूहिक रूप से समाज के पास इतने साधन बन जाते हैं कि वह अपने सभी व्यक्तियों के रहने के लिये मकान उपलब्ध कर सके,—और वह भी ऐसे मुक्त वातावरण में जिसमें स्वामित्व भाव की आसक्ति न हो, और न परस्पर कलह और विद्वेष का कारण। भूमि पर, मकान पर, धन कमाने के साधनों पर व्यक्ति अपना स्वामित्व न रक्खें तो क्या सन्यास धारण करलें? सन्यासी बनने की बात नहीं है।

वस्तुतः प्राकृतिक और वैज्ञानिक साधनों की आज की विकसित स्थिति में व्यक्तिगत सम्पत्ति का समाज में समर्पण समयोचित एक ऐसी सभ्यता का आधार बनेगा जिसमें व्यक्ति को चिंता की आवश्यकता नहीं, क्योंकि उसके रोजगार के, उसके बुढ़ापे और बीमारी में आराम के, उसके प्यारे बच्चों की शिक्षा दीक्षा और कारोबार के सब साधन समाज प्रस्तुत करेगा;—जिसका एक उत्तम फल यह भी होगा कि व्यक्ति में धन-मकान के संग्रह की वृत्ति, नैतिक-अनैतिक किसी भी प्रकार से धन कमाने की वृत्ति अथवा लोभ वृत्ति की आवश्यकता न रहे—अतः यह वृत्ति धीरे धीरे मनुष्य के स्वभाव से ही विलीन हो जाय। और यह तो एक बहुत ही व्यावहारिक बात है जिसका आनंद उन देशों के करोड़ों लोग भोग रहे हैं जहाँ व्यक्तिगत सम्पत्ति का उन्मूलन हो चुका है, जहाँ व्यक्ति सभी आवश्यक वस्तुओं का स्वतंत्र उपभोग भी करते हैं और साथ ही साथ जहाँ वस्तुओं के प्रति स्वामित्व-परक आसक्ति का भाव नहीं, किन्तु सन्यासत्व-परक चिंता-हीनता का भाव है।

अब उच्च वर्ग की बात लें जो समाज की अधिकतम भूमि, धन, सम्पत्ति का मालिक है। ऐसे वर्ग को क्या तो चिंता ही हो सकती थी और उसमें क्या सामाजिक अनैतिकता का कारण हो? किंतु युग-परिवर्तन होता रहता है। मान्यताओं और नैतिक मूल्यों में भी परिवर्तन होता रहता है। जिस वर्ग के विषय में कुछ ही वर्ष पूर्व यह माना जाता था कि उसका धन पुण्य कर्मों द्वारा और समाज में मान्य नैतिक साधनों द्वारा कमाया हुआ है, उसी के विषय में आज यह माना जाता है कि उसके धन का आधार दूसरों का शोषण अर्थात् हिंसा है। जो वर्ग कुछ ही वर्ष पूर्व अपने आपको

बिल्कुल सुरक्षित महसूस करता था वही आज इस चिंता में घुल रहा है कि कहीं दूसरे उसकी धन-सम्पत्ति को लूटमार मचाकर छीन न लें।

इस प्रकार हमने देखा कि आज के युग में कोई भी वर्ग चिंता-हीन नहीं, और यह भी देखा कि इसकी अनैतिकता का मूल कारण 'व्यक्तिगत सम्पत्ति' की प्रथा है। इसका व्यापक कुप्रभाव केवल सब वर्गों के व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं है वरन् सामाजिक और विशेषत: प्रशासनिक जीवन के प्रत्येक अंग में भी यह घुस गया है। म्यूनिसिपल या स्थानीय शासन के मामलों में स्थानीय मंडल के सदस्य हमेशा भूमि-पति या मकान-मालिकों के स्वार्थों से प्रभावित रहते हैं, और ऐसे मामलों में समस्त नगर के हित की अपेक्षा व्यक्तियों के निहित स्वार्थों की रक्षा होती रहती है। आजकल के तथाकथित जनतंत्रीय राज्यों में सबको मतदान का अधिकार होते हुए भी संसदों में प्रभुत्वशाली वर्गों का ही प्रतिनिधित्व होता है, क्योंकि निहित स्वार्थ अपने धन सम्पत्ति के बल पर ऐसा प्रबंध कर लेते हैं। और भारत में तो ऐसी हवा चली है कि संसद के सदस्यों और मिनिस्टरों से लेकर राज्य के तुच्छ से तुच्छ कर्मचारी तक यही सोचते हैं कि चलो मौका है, कुछ संग्रह करके रख लिया जाय; क्योंकि समाज ऐसा है जिसमें आर्थिक सुरक्षा की कोई आशा नहीं, और प्रतिष्ठा मिनिस्टर या विद्वान की नहीं बल्कि मकान-जायदाद वाले धनी व्यक्ति की है। सार्वजनिक कार्यों में जो सेवा-भावी और फकीर लोग कार्य करना आरम्भ करते हैं, समाज का अनुभव प्राप्त करने के बाद, उनका अंत भी व्यक्तिगत मकान और जायदाद खड़ा करने में ही होता है, क्योंकि वे जान जाते हैं कि आज के समाज में सेवा की प्रतिष्ठा नहीं किन्तु सम्पत्ति की प्रतिष्ठा है। हिन्दुस्तान जैसे गरीब देश में जहाँ स्वतंत्र, सर्वथा एक नई सरकार बन रही थी, उसे साथ ही साथ बेईमान और कुप्रवृत्ति के मूल कारण 'व्यक्तिगत स्वामित्व' की प्रणाली को समूल नष्ट कर देना चाहिये था, तभी एक निखरे हुए सहज प्रसन्न समाज का निर्माण संभव हो सकता था।

ऊपर हम जिस चिंता की बात करते आरहे हैं वह, और अनैतिकता जिसकी मुख्य विशेषता है हिंसा, मिट नहीं सकती जब तक दुनिया

के सब देशों में व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा का उन्मूलन होकर सम्पत्ति का समाजीकरण नहीं हो जाता। दुनिया के केवल एक-दो देशों में समाजवादी व्यवस्था स्थापित हो जाने से तो हिंसा या युद्ध बने ही रहेंगे, क्योंकि एक तरफ तो व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा वाले देश अपने निहित स्वार्थों के लिये समाजीकरण की हवा से त्रासित हमेशा समाजवादी देशों को खत्म करने की ताक में रहेंगे और दूसरी तरफ समाजवादी देश अपनी नव-स्थापित व्यवस्था की रक्षा के लिये एवम् शेष दुनिया में साम्यवादी आदर्श लाने के लिये प्रयत्न करते रहेंगे। यांत्रिक आविष्कारों के फलस्वरूप मानव-समाज विकास की जिस दशा को आज प्राप्त हो चुका है उसमें, सभी देशों में वक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा प्रचलित रहने से क्या परिणाम होता है, यह तो हम स्पष्ट देख ही रहे हैं। इसका परिणाम होरहा है, युद्ध और भयंकर-तर युद्ध। इतिहास इसका साक्षी है। पिछले चालीस वर्षों में दो महाविनाशकारी युद्ध हो चुके हैं। वस्तुत: हिंसा और युद्ध वैयक्तिक सम्पत्ति में निहित घोर स्वार्थ असमानता, परस्पर प्रति-स्पर्धा और तद्जनित द्वेष और वैर-भावना के स्वाभाविक परिणाम हैं।

नई परिस्थितियों में नये सामंजस्य की आवश्यकता होती है। जिस प्रकारसमस्त प्रकृति और प्राणी-क्षेत्र में निरंतर परिवर्तन और विकास होता रहता है उसी प्रकार सामाजिक-राजनैतिक क्षेत्र में भी निरंतर परिवर्तन और विकास होता रहता है। आदिम युग में सामाजिक संगठन का रूप आदिम साम्यवाद था, जब व्यक्तिगत सम्पत्ति की कल्पना भी नहीं थी। धीरे धीरे मनुष्य ने पशुपालन सीखा, कृषि का आविष्कार किया; धीरे धीरे व्यक्तिगत सम्पत्ति की भावना आई, व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा का प्रचलन हुआ, और समाज में पहिले दासत्व और फिर सामंतवाद का विकास हुआ। फिर जब १८ वीं सदी में यांत्रिक आविष्कार हुए तो पहिले कई देशों में सामंतवाद को जो नये युग धर्म के प्रतिकूल पड़ता था खत्म होना पड़ा और उनमें युग के अनुकूल धर्म यथा व्यक्तिवादी औद्योगिक पूंजीवादी की स्थापना हुई जिसका प्रसार वैयक्तिक सम्पत्ति के आधार पर धीरे धीरे अन्य अनेक देशों में भी

हुआ। वैयक्तिक सम्पत्ति पर आधारित यही पूंजीवाद आज अपने विकास की उस स्थिति में है जब उसकी ऐतिहासिक आवश्यकता और महत्त्व नष्ट हो चुका है, उसमें गतिरोध उत्पन्न हो चुका है। आज समस्त मानवसमाज अपने सामाजिक-राजनैतिक जीवन की उस घड़ी में है जब उसे स्पष्ट, असंदिग्धरूप से निर्णय कर लेना है कि वह अपनी रूढ़ वैयक्तिक सम्पत्ति की भावना को पकड़े हुए जीवित रहने का असफल प्रयत्न करेगा या एक साहस भरे दिल से निर्जीव रूढ़ मान्यताओं के बंधन से मुक्त हो विकास का अगला चरण उठायेगा। संभव है व्यक्तिगत स्वामित्व की भावना से प्रेरित देशों की सरकारें समस्त मानवसमाज को युद्ध में झोंक दें और इस तरह मानवजाति के अस्तित्व को ही खतरे में डाल दें, या सभ्यता का ही विनाश कर मनुष्य-जाति को आदिमयुगीय असभ्य जंगली अवस्था में ला पटकें।

आज युद्ध की जो संभावना बनी हुई है वह युद्ध वस्तुतः जनतंत्र और अधिनायकवाद, डेमोक्रेसी और डिक्टेटरशिप की दो विभिन्न विचारधाराओं में नहीं, किंतु उसका मूल है मानव-जाति की दो प्रच्छन्न वृत्तियों में। एक है मानव में अगोचर विकास की वृत्ति जो आज के युग में विकास का अगला चरण उठाने के लिये ऐसी भूमि की अपेक्षा रखती है जिसमें "व्यक्तिगत-सम्पत्ति" का गड्ढा न हो; दूसरी है मानव में "विकास-विरोध" की स्वाभाविक वृत्ति जो इस परंपरागत व्यक्तिगत सम्पत्ति के अस्तित्व को बनाये रखना चाहती है। गति, अगति, अर्थात् धर्म अधर्म, आध्यात्म और जड़त्व में यह द्वन्द्व है।

विकास का रास्ता यही है कि जिन थोड़े से लोगों के पास जो अतुल धन-सम्पत्ति है वह उनसे लेली जाय और उनको रचनात्मक कार्य में प्रवृत्त किया, जाय और शिक्षा और सामाजिक-वातावरण द्वारा इस सनातन मानव-धर्म का अनुभव कराया जाय कि जीवन का आनंद रचना में है, स्वामित्व में नहीं। यह आनंद वस्तु का निर्माण और उपभोग करने में है, उसको दबाकर अपने नीचे रखने में या उससे दूसरे को नौकर या गुलाम बनाकर रखने में नहीं। जो असंख्यजन धन और उचित रोजगार विहीन हैं उनको भी रचना के काम में लगाया जाय, और उपभोग करने

को धन दिया जाय, और उनको भी शिक्षा द्वारा यह अनुभव कराया जाय कि आनंद रचना (क्रियेशन) में है, जिस वस्तु की वे रचना करने लगें उसका स्वामी बनकर बैठने में नहीं। 'रचना' न कि 'व्यक्तिगत स्वामित्व'—यही सामाजिक जीवन में आनंद का मूल है। ऐसी भावना की सहज लहर समाज के अंग अंग में तरंगित हो उठेगी जब समाज का प्रत्येक व्यक्ति यह जान लेगा कि समाज में जो कुछ भी धन है, वह सभी का समान है, किन्हीं थोड़े से विशेष व्यक्तियों का नहीं। और ऐसा होकर रहेगा, यदि वस्तुतः इस ब्रह्मांड में मनुष्य जाति का कोई महत्त्व है तो।

यदि मानव का विकास होना है, यदि मानवमात्र में एक मनोवैज्ञानिक, चेतनात्मक क्रांति होनी है जिसके फलस्वरूप मानव मानव को 'एक ही पिता का पुत्र' अनुभव करे, अथवा अनुभव करे कि "एक ही परमात्मा सब में अभिव्यक्त है", तो कल्पना कीजिये ऐसी स्थिति में तो सहज स्वाभाव से ही सामाजिक संगठन का रूप ऐसा होगा जिसमें व्यक्तिगत सम्पत्ति का अस्तित्व न हो। ऐसी चेतनायुक्त स्थिति में यदि कहीं किसी ने अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति को भी बनाये रखना चाहा तो वह एक अभद्र कार्य समझा जायगा। किंतु तथ्य तो यह है कि ऐसी चेतनायुक्त स्थिति का परिणाम व्यक्तिगत सम्पत्ति का उन्मूलन नहीं होगा बल्कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का उन्मूलन एक ऐसा पूर्व-कारण होगा जो उपर्युक्त सात्विक चेतनस्थिति लाने में महान रूप से सहायक सिद्ध हो। बिना उपयुक्त सामाजिक भूमि तैय्यार हुए, मानव का अधिकतम विकास जिस ओर श्री अरविंद ने संकेत किया है, केवल एक भुलावे की चीज रह जायगी। व्यक्तिगत सम्पत्ति का उन्मूलन मानस-लोक में वह भूमि प्रस्तुत करने में सहायक होगा जिसमें अतिमानस का सहज अवतरण हो सके। इस संबंध में आज की दुनिया में मान्य अध्यात्मविद्या और रहस्यवाद की पंडिता, न केवल पंडिता किंतु स्वयं-अनुभूत अध्यात्मवादिनी, श्री ऐवेलिन अंडरहिल का मत उद्धरण योग्य है। वे कहती हैं—"मैं यह कहे बिना नहीं रह सकती कि ऐसे समाज में, जो आर्थिक भार से पीड़ित और त्रासित है और जहाँ प्रत्येक स्त्री-पुरुष का ध्यान प्रतिदिन रोटी कमाने पर लगा हुआ है, आध्यात्मिक मूल्य प्राप्त नहीं किये जा सकते। मैं यह कोई एक

राजनैतिक उक्ति नहीं कह रही हूँ, यह तो एक वस्तु-स्थिति है जिसका हमें मुकाबला करना चाहिये। यद्यपि ग़रीबों की ज़िन्दगी का साहस और उनका अपनी असुरक्षित (ग़रीबी की) स्थिति को बहुत ही संतोष के साथ सहन करना, उनके जीवन में एक श्रेष्ठता का द्योतक है जिससे हमें शर्म आनी चाहिये, तथापि यह बात तो सत्य है ही कि ऐसी जिंदगी आध्यात्मिक विकास के लिये उपयुक्त क्षेत्र नहीं है। ग़रीबी की इतनी बड़ी बात नहीं है, जितनी कि ग़रीबी से उत्पन्न चिन्ता, भार और भय की, एवं ऐसी स्थिति में 'अनासक्त' भाव की असंभावना की।" (ऐवलिनअंडर हिल: दी लाइफ आफ दी स्पिरिट ऐन्ड दी लाइफ आफ-टुडे—पृष्ठ २१६)

खाद्य समस्या एवं जनसंख्या का प्रश्न

यदि संसार में आज खाद्यपदार्थ (अन्न) की इतनी उपज है कि संसार के सब प्राणी उससे अपना पेट उचित रीति से भर सकें तो मूल में कोई विशेष उलझन की समस्या नहीं रह जाती। फिर तो यही प्रश्न रह जाता है कि संसार में मनुष्यों के खाने को पर्याप्त अन्न तो है, किन्तु वितरण की व्यवस्था ठीक न होने से, अथवा यातायात के साधन कम होने से अनेक मनुष्यों को भूखा रहना पड़ता है।

किन्तु स्थिति यदि ऐसी हो कि खेती के अनेक वैज्ञानिक ढंग होते हुए भी मूल में ही आज इतना अन्न नहीं उत्पन्न होता हो जो कि संसार की समस्त जनसंख्या के लिये पर्याप्त हो तो प्रश्न का पहलू ही बदल जाता है। ऐसी स्थिति में तो आदर्शतम् साम्यवाद होते हुए भी, यातायात इत्यादि के सब साधन होते हुए भी, लोगों को भूखों मरना ही पड़े। कोई भी चारा न रहे।

अब देखना चाहिए वस्तुस्थिति क्या है ?

युद्ध को समाप्त हुए कई वर्ष होते हुए भी, आज खाद्यान्नों के भाव अपरिमित रूप से बढ़े हुए हैं। युद्धकालीन समय में खाद्य पदार्थों की

कीमतों में जो वृद्धि हुई थी, उसका कारण तो समझ में आता था, एवं उस समय साधारण जनता की यही धारणा बनी हुई थी कि युद्ध समाप्त होने पर, खाद्य पदार्थ खूब सस्ते हो जायेंगे, विशेषतः इस सबब से भी कि, महायुद्ध में लाखों मनुष्य हताहत हो रहे थे, एवं परिणाम स्वरूप दुनिया की आवादी भी कम हो रही थी। किन्तु यह धारणा गलत निकली। जहां यह धारणा बनी हुई थी कि युद्ध के पश्चात् जन-संख्या कम होगी—वहां वस्तुस्थिति यह निकली कि "आज दुनिया की आवादी युद्ध पूर्व कालीन समय से ८ प्रतिशत अधिक है—एवं दुनिया की खाद्य पदार्थों की उपज पहिले से ६ प्रतिशत कम।" इसीलिए खाद्य पदार्थ युद्ध कालीन समय से भी अधिक महंगे,—एवं दुनियां का पेट भरने के लिये अपर्याप्त हैं। दूसरे कारण भी होंगे किन्तु वे सब गौण हैं। आगे यह अनुमान लगाया जाता है कि दुनिया की जन-संख्या तेजी से बढ़ती हुई चली जा रही है। हिन्दुस्तान की जन-संख्या जहां १९४१ में ३८ करोड़ थी सन् १९७० तक ५५ करोड़ हो जायगी ; इसी प्रकार १९७० तक रूस की आवादी १७ करोड़ से बढ़कर २५ करोड़, एवं चीन की ४५ करोड़ से बढ़ कर ६० करोड़ तक पहुंच जायगी। प्रायः अन्य देशों की भी जन-संख्या कुछ अधिक कुछ कम अनुपात से इसी भांति बढ़ती ही जारही है। इस प्रकार अगले २०-२२ वर्षों में दुनिया की जनसंख्या आज से लगभग ३०-३५ प्रतिशत अधिक हो जायगी। सर जॉनबॉयडओर का, जो संयुक्तराष्ट्र की खाद्य तथा खेती परिषद के संचालक हैं, अनुमान है कि अगले २५ वर्षों में दुनिया की बढ़ती हुई आवादी को पर्याप्त खाद्यान्न देने के लिय,—दुनिया की खाद्यान्न की उपज ११५ प्रतिशत बढ़ानी पड़ेगी। क्या यह सम्भव है ? क्या दुनिया इस रफ्तार से बढ़ती हुई आवादी को, उपज के अनेक वैज्ञानिक ढंग होते हुए भी—पूरी तरह से खिला-पिला सकेगी ?

इसी प्रश्न की स्थिति, और वाकी देशों को छोड़ कर अपने देश भारतवर्ष (हिन्दुस्तान+पाकिस्तान) में क्या है—यह नीचे के आंकड़ों से देखिये :—

काल	आवादी
१७ वीं शताब्दी (प्रारम्भ काल)	१० करोड़ लगभग

काल		आबादी
१८ वीं शताब्दी	(मध्य)	१३ करोड़ लगभग
१९ वीं ,,	,,	१५ ,, ,,
सन् १९३१		३५ करोड़
सन् १९४१		३८॥ करोड़
सन् १९५१		४२ करोड़ (अनुमानत:)

मतलब यह है कि जहां अकबर बादशाह के जमाने में हिन्दुस्तान को केवल १० करोड़ प्राणियों का भरण-पोषण करना पड़ता था—आज उसी हिन्दुस्तान को ४२ करोड़ (चौगुने से भी अधिक) मानवों का पालन करना पड़ता है। यह बात सत्य है कि ज्यों-ज्यों आबादी में वृद्धि हुई है त्यों-त्यों भूमि भी अधिक बोई जाने लगी है, एवं अनाज की उत्पत्ति भी खूब बढ़ी है। किंतु हर एक चीज की हद होती है। जहां प्रथम महायुद्ध (१९१४–१८) में तथा उसके पहिले भारतवर्ष की यह दशा थी कि यहां आवश्यकता से अधिक अन्न पैदा होता था, अतएव यहां से अन्न का निर्यात अन्य देशों को होता था—वहाँ आज यह स्थिति है कि यदि लगभग ५० लाख टन अन्न इस वर्ष बाहरी देशों से भारत में न आय तो देश भयंकर भूख से त्राहि-त्राहि करने लगे। अपना पेट भरने के लिये शस्य श्यामला भारत भूमि को दूसरों का मुँह ताकना पड़ता है। आज भारत की वास्तविक स्थिति इस प्रकार है :—

सन् १९५०–५१ (१२ महीनों के आंकड़े)

जनसंख्या	समस्त खाद्यान्नों की उपज
४२ करोड़ (अनुमानत:)	४ करोड़ ७० लाख टन, (अनुमानत:)

इम्पीरियल कृषि अनुसंधानशाला की खोज के अनुसार प्रति आदमी प्रतिदिन १८ औंस (=९ छटांक) अनाज के हिसाब से, ३५ करोड़ प्राणियों के लिये प्रतिवर्ष ४ करोड़ ७० लाख टन अनाज की आवश्यकता होती है। इस हिसाब में छोटे बच्चों की संख्या, जन-संख्या की लगभग एक तिहाई मान कर उनकी अनाज की आवश्यकता शून्य मान ली गई है। उपर्युक्त हिसाब से आज के ४२ करोड़ जन-समाज के लिये प्रतिवर्ष लगभग ५ करोड़ ६४ लाख टन अनाज की आवश्यकता है।

किन्तु आज की उपज केवल ४ करोड़ ७० लाख टन है ; अर्थात् ६४ लाख टन अनाज की प्रति वर्ष कमी है। इसका यह मतलव निकलता है कि यदि बरावर १८ औंस अनाज प्रति दिन भारत की जन-संख्या मे वितरित किया जाये तो प्रति दिन लगभग ३॥ से ४ करोड़ मनुष्यों को सर्वथा विना अन्न के रहना पड़े। माना सवको भर पेट १८ औंस अन्न न देकर एवं अन्य देशों से अनाज आयात (Import) करके इस कमी को पूरा किया जाता है। किन्तु यदि भारत में ही उपलब्ध खाद्यान्न की दृष्टि से देखा जाय तो यहाँ ३॥ से ४ करोड़ प्राणियों की अधिक आवादी है। वात यहीं समाप्त नहीं हो जाती--भारत में यह आवादी वड़ी तेज चाल से, प्रति वर्ष ५० लाख के हिसाव से, वढती जा रही है। जव भारत के पास वर्तमान जन-संख्या के लिये पर्याप्त अन्न नहीं है, तो इस तेजी से वढती हुई जनसंख्या के लिये प्रति वर्ष ८-१० लाख टन और अधिक अनाज कहाँ से लाया जायेगा ?

माना सरकार खाद्यान्न की कमी एवं उससे उत्पन्न भूख की अति भीषण स्थिति को महसूस कर रही है---और देश को भूख से वचाने के लिये अधिक से अधिक अन्न उत्पन्न करने की योजनायें सच्चे दिल एवं अटूट प्रयत्न से वना रही है : यथा---अधिक भूमि जोतने के प्रयत्न हो रहे हैं--खेतों की पूरी पूरी सिंचाई के लिये दामोदर घाटी, महानदी, गढ़वाल, भाखरा इत्यादि की योजनायें शनैः शनैः कार्यान्वित हो रही हैं---विहार में खेती के लिए उपयोगी खाद उत्पन्न करने का वड़ा कारखाना खुल रहा है--इत्यादि, किन्तु इन सव योजनाओं को प्रतिफलित होने में अभी वर्षों लगेंगे,--तव तक क्या मानव की भूख प्रतीक्षा ही किया करेगी ? और फिर जव उपर्युक्त योजनायें सफलीभूत हो जायेंगी, तव तक पैदावार जितनी वढ़ेगी उससे कहीं अधिक तो जनसंख्या वढ़ जायेगी !

यही हाल शेष दुनिया का है, गोकि भारत एवं चीन जैसी भीषण स्थिति और कहीं नहीं है। भारत तथा शेष दुनिया पर मंडराती हुई भूख की यह स्थिति है। सभी लोग,---महंगाई से घवराया हुआ साधारण जन, अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री, विज्ञानवेत्ता---इस वात को

महसूस कर रहे है। अतएव यह प्रश्न बहुत ही विचारणीय है। बढ़ती हुई जनसंख्या तथा उससे उत्पन्न खाद्य समस्या को कैसे सुलझाया जाय ? क्या इस प्रश्न को भाग्य या नियति या प्रकृति के भरोसे छोड़ दिया जाय—मानो बच्चे पैदा होते रहना, जनसंख्या में वृद्धि होते रहना प्रकृति का एक स्वाभाविक व्यापार है—इसमें मनुष्य क्या करे ?

किन्तु यह जानना चाहिए कि यह सृष्टि एक विकासात्मक अभिव्यक्ति है, एवं जिस विकासात्मक स्थिति तक मानव-प्राणी पहुँच चुका है, उस स्थिति में उसे अचेतन द्रव्य पदार्थों (Unconscious matter) की तरह प्रकृति के नियमों का यन्त्रवत् पालन करने की जरूरत नहीं—अथवा इतर प्राणियों की तरह केवल जन्मजातवृत्ति (Instinct) से प्रेरित होकर क्रिया करने की जरूरत नहीं। मानव विशेष-चेतना एवं बुद्धियुक्त, कल्पनामय प्राणी है-वह सामाजिक प्राणी भी है। अपने तथा अपने समाज के विकास की सीमाओं को वह स्वयं स्वतंत्र रूप से निर्धारित कर सकता है—ऐसी स्थिति में वह है। एतदर्थ समाज तथा समाज के व्यक्तियों का जीवन मंगलमय रखने के लिये आवश्यकता पड़ने पर, वह प्रकृति के उपर्युक्त साधारण एवं स्वाभाविक व्यापार पर भी प्रतिबन्ध का प्रयोग कर सकता है—एवं जनसंख्या और खाद्य-उत्पादन की ऐसी सामंजस्यात्मक योजना कर सकता है कि इस मानव प्राणी को, इस नारायण को भूखा नहीं मरना पड़े। इसमें क्या मजा है कि इस पृथ्वी पर असंख्य प्राणी हों किन्तु दीन, हीन, भूखे, बीमार और पीड़ित, मानो गंदे मैले में कीड़े बिलक रहे हों ! मनुष्य चाहे कम हों, किन्तु हों स्वस्थ, सिर उठाये और छाती ताने हुए, आनन्दमय और मुक्त। जीवन और चेतना का यही तो रहस्य और यही तो उद्देश्य भी है—स्वास्थ्य (सौंदर्य), स्वतंत्रता और आनन्द की अनुभूति।

समाज जीवन निर्माण की एक रोमांचकारी कहानी।

यह रोमांचकारी कहानी है रूस की। इस कहानी से हमको बहुत कुछ जानने को, बहुत कुछ समझने को, बहुत कुछ हृदय टटोलने को मिल सकता है और मिल सकती है एक स्फूर्ति—इसी दुनियां में रहते हुए जीवन के प्रति उल्लासमयी आशा! इसका यह अर्थ नहीं कि हम रूस के आदर्शों एवं वहां की विचार-धारा को अपनाकर ही इस स्फूर्ति और उल्लास के अधिकारी होंगे। ऐसा न होते हुए भी इस कहानी में क्षमता है कि वह हमारे पारलौकिक-वृत्ति-जन्य आलस्य को खदेड़ डाले, हमारे इहलौकिक व्यक्तिगत स्वार्थ को गोली मार कर उड़ा दे, जिसकी वजह से हम अपने समूह-जीवन, समाज-जीवन के प्रति अक्षम्य रूप से उदासीन बने हुये हैं।

आखिर हम एक "अच्छा-जीवन" (Good Life) चाहते हैं। इस अच्छे जीवन के मूलभूत आधार हैं—स्वास्थ्य-प्रद संतुलित भोजन, रहने के लिये स्वस्थ हवादार खुला भवन, एवं चेतना की (मानसिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक तत्व जो कुछ भी आप मानें) अधिकतम जागृति, प्रस्फुटन और विकास के लिये शिक्षा। इन आधारभूत चीजों के बिना "अच्छा जीवन" नहीं मिल सकता। अच्छे जीवन के प्रथम दो आधार मैंने भोजन एवं मकान माने हैं—इनके बिना शिक्षा, मानसिक अथवा आध्यात्मिक जीवन निराधार है। दुनिया से दूर एक गुफा में बन्द एक "योगी" के लिए भी जीवन का अस्तित्व बनाये रखने के लिये (For the very existence of life) आखिर प्रतिदिन कम से कम सेर भर दूध और चार केले का प्रबन्ध होना ही चाहिये। त्यागी "महात्मा" के लिये भी आखिर प्रतिदिन आधा सेर बकरी का दूध और चार संतरों का प्रबन्ध होना ही चाहिये। लोगों को यह मालूम होना

चाहिये कि अन्न जिसे हम खाते हैं वही तो आखिर जाकर हमारे प्राण में परिणत, हमारी चेतना में परिलक्षित होता है। उस अन्न के बिना प्राण, चेतना और आत्मा भी बन ही नहीं सकते,—कायम भी नहीं रह सकते। यदि विश्वास न हो तो अन्न को छोड़ कर देखा जा सकता है।

इसका यह अर्थ भी नहीं समझ लेना चाहिये कि खूब खाने पीने में, बढ़िया-बढ़िया मकानों में रहने में ही "अच्छा जीवन" निहित है। ऐसा सोच लेना एक दूसरी गलती होगी। कहने का तात्पर्य तो इतना ही है कि इन आधारभूत वस्तुओं के बिना—यथा भोजन, मकान और शिक्षा के बिना—अच्छा जीवन प्राप्त नहीं हो सकता—जिसे हम आध्यात्मिक उन्नति कहते हैं वह भी नहीं हो सकती।

सब लोगों का जीवन अच्छा बने—सब लोग जो कि चेतना लेकर अवतरित हुये हैं उनकी चेतना का विकास यथाभाव एवं बेकारी के भय से, अस्वस्थ मकान और गन्दी नालियों के गन्दे वातावरण से, शिक्षा के अभाव से, रुक न जाये, उनके आनन्द की अनुभूति दब न जाये, इसके लिये यह जरूरी है कि सब लोगों के लिये अन्न, काम, मकान एवं शिक्षा का प्रबन्ध हो।

हिन्दुस्तान में आज पैंतीस करोड़ प्राणी रहते हैं। उनके भोजन मकान एवं शिक्षा का प्रबन्ध होना चाहिये। किन्तु हिन्दुस्तान में न तो इतना अन्न ही पैदा होता है और न इतना दूध, फल और तरकारी, कि सब को पेट भरने के लिये उचित सन्तुलित भोजन मिल सके। न इतने स्वस्थ मकान ही हैं कि सब अच्छी तरह से रह सकें, न इतने विद्यालय एवं शिक्षक ही हैं कि सब को ज्ञान का प्रकाश दिया जा सके। विशेषज्ञों का अनुमान है कि हमारे पास अभी जितना है उससे तिगुने परिमाण में और अधिक भोजन पैदा करना पड़ेगा, मकान बनाने पड़ेंगे, एवं स्कूल खोलने पड़ेंगे।

भोजन विशेषज्ञ डॉक्टर अक्रोइड द्वारा तय किया तथा सन्तुलित भोजन का वह परिमाण जो प्रतिजन के लिये आवश्यक है उस आधार पर हमारे हिन्द संघ के आज (अनुमानित) लगभग ३५ करोड़ जनों के लिये कुल निम्न परिमाण में भोजन वस्तुओं की वार्षिक आवश्यकता है।

१ भोजन

अन्न	५ करोड़ ५० लाख टन
दालें	१ ,, १० ,, ,,
बिना पत्तेदार तरकारियां	२ ,, ३० ,, ,,
पत्तेदार हरी ,,	१ ,, ५० ,, ,,
घी-तेल	० ,, ८० ,, ,,
फल	० ,, ८० ,, ,,
दूध	१३ ,, पौंड (रतल)

इसमें से कितना अभी हिन्द संघ में उत्पादन हो रहा है—उसके आंकड़े बराबर उपलब्ध न होने से निश्चय पूर्वक नहीं कह सकते कि उपलब्ध सामग्री को देखते हुए इन चीजों का उत्पादन कितना और बढ़ाया जाना चाहिये। हमारा अनुमान है कि इन वस्तुओं की आवश्यकता सम्पूर्ण रूप से पूरी करने के लिये हमें इन वस्तुओं में से कुछ का उत्पादन औसतन प्राय: ४०० प्रतिशत अर्थात् चौगुना तो बढ़ाना ही पड़ेगा।

२ 'अनुमानित' नई जरूरत (संख्या)

मकान	गांवों में	शहरों में	विशेष
	५ करोड़	८० लाख	इस आधार पर कि कुल ३५ करोड़ जन-संख्या में से ७०% गांवों के मौजूदा मकान रहने लायक नहीं हैं, अतएव लगभग सभी नये बनने चाहियें। शहरों में रहने वाली जन संख्या के केवल ४०% लोगों के लिये नयें मकान बनने चाहियें।

३

स्कूल	गांवों में	शहरों में	विशेष
प्राइमरी स्कूल	२६ लाख	४० हजार	
मिडिल स्कूल	६० हजार	१० हजार	
हाई स्कूल	१५ हजार	४ हजार	

आप देख सकते हैं—समस्या आसान नहीं है, बहुत ही कठिन है। अरबों रुपयों की पूंजी की लागत का प्रश्न है। ऐसे ही, बल्कि इससे भी बहुत अधिक गिरी हुई एवं चिंता-जनक समस्या रूस के सामने पेश थी जब उसने अपने आपको जार-शाही से आजाद किया था। रूस-वासियों ने इस समस्या को कैसे सुलझाया? यह एक रोमांचकारी कहानी है, इससे हम सबक सीख सकते हैं।

अक्टूबर सन् १९१७ में बोल्शविक (साम्यवादी) पार्टी की विजय हुई और वे "सर्व-हारा वर्ग" (अर्थात् भूमि रहित किसान एवं मजदूर) की डिक्टेटरशिप के अन्तर्गत एक समाजवादी समाज के निर्माण के प्रयत्न में लग गये, ऐसे समाज के निर्माण में जहां सब औद्योगिक उत्पादन के साधनों पर एवं सम्पूर्ण भूमि पर सारे राष्ट्र (स्टेट) का स्वामित्व हो, कुछ इने गिने लोगों का नहीं। साम्यवादी पार्टी की इस विजय से आस पास के साम्राज्यवादी देश घबराये जैसे ग्रेट-ब्रिटेन, फ्रांस, जापान, जर्मनी इत्यादि। १३ साम्राज्यवादी देशों ने रूस में अपनी फौजें भेजीं, समाजवादी राज्य की स्थापना को रोकने के लिये एवं रूस के पूंजीपतियों, धनिकों, भूमि-पतियों की सहायता से वहां फिर से एक पूंजीवादी राज्य कायम करने के लिये। सन् १९१७ से १९२२, लगभग ५ वर्ष तक एक देश-व्यापी भयंकर गृह-युद्ध जिसमें विदेशी फौजों की भरपूर सहायता थी, बराबर चलता रहा, किन्तु साम्यवादी शक्ति की दृढ़ता के सामने आखिर विदेशी फौजें जो चार वर्ष तक पहिले ही महायुद्ध में लड़ चुकी थीं, थक कर चली गईं और रूस के धनिक और

भूपति लोगों की शक्ति भी परास्त हुई। इसी बीच सन् १६२० में रूस को एक भयंकर अकाल का सामना करना पड़ा। गृह-युद्ध, अकाल, विदेशी फौजों की अड़ंगेबाजी की लड़ाई तो खत्म हुई किन्तु अब स्वयं साम्यवादी पार्टी में कुछ विचारक एवं नेता ऐसे निकले जो कहते थे कि केवल एक देश में समाजवादी सिद्धांतों पर समाज का निर्माण नहीं हो सकता, ऐसा होने के पहले यह आवश्यक है कि दुनिया भर में साम्यवादी क्रांति की जाय। ऐसे लोगों में मुख्य ट्रॉट्स्की थे। इनका विरोध हुआ उन विचारकों से—तथा लेनिन एवं स्तालिन से जो यह कहते थे कि एक देश में भी समाजवादी क्रांति सफल हो सकती है, समाजवादी-समाज की स्थापना हो सकती है। यह भी रूस के सामने कोई कम मुश्किल का प्रश्न नहीं था—और यह वर्षों तक चलता रहा। लेकिन लेनिन और स्टालिन जिनके हाथ में देश का कार्य-भार था साम्यवाद को लक्ष्य मानकर परिस्थितियों के अनुरूप साधारण ज्ञान द्वारा परिचालित होकर निर्माण के पथ पर अग्रसर होते गये।

इन बातों के कहने का तात्पर्य यह दिखलाना ही है कि ऐसी अस्थिर, साधना-विहीन वह पृष्ठभूमि थी,—ये वे कठिनाइयां एवं परिस्थितियां थीं जिनमें, रूस ने अपने नव-निर्माण का काम प्रारम्भ किया था।

इस अभूतपूर्व निर्माण का लक्ष्य अवश्य ऐसा समाज था जहां मजदूर का किसी भी प्रकार का शोषण न हो, जहां प्रत्येक व्यक्ति को निश्चित अच्छी रोटी मिले, रहने के लिये मकान मिले, एवं उच्चत्तम शिक्षा मिले, जहां सब अपनी अपनी दक्षता के अनुसार समाज में कोई भी कार्य करें और अपनी अपनी आवश्यकता के अनुसार धन अथवा आवश्यक वस्तुएं ले लें। किन्तु नव-निर्माण का, उपर्युक्त लक्ष्य तक पहुँचने का आधार था व्यक्तियों द्वारा कठोरतम त्याग और वलिदान। सम्पूर्ण समाज की, सम्पूर्ण राष्ट्र की भलाई के लिये प्रत्येक व्यक्ति को त्याग करना ही पड़ेगा—यह त्याग और वलिदान व्यक्ति को खुशी खुशी अपना धर्म समझ कर करना ही चाहिये—और वस्तुतः साम्यवाद की सम्पूर्ण न्याय भावना में कुछ ऐसी विलक्षणता सिद्ध हुई कि रूसी नेता सम्पूर्ण

होता था, योजना की छोटी से छोटी सी बात से लेकर बड़ी से बड़ी बात तक व्यावहारिक दृष्टि से सोची जाती थी—प्रत्येक विचारणा में एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं संजीदगी की भावना होती थी। और फिर योजना-कमीशन द्वारा योजना सम्बन्धी अन्तिम स्वरूप तय होने पर, और योजना के अन्तर्गत प्रत्येक जिले के लिये, प्रत्येक गांव के लिये, प्रत्येक फेक्टरी के लिये, प्रत्येक छोटी से छोटी बात तय होने पर सबको यह योजना पूरी करने में एक मन हो कर अपने अपने निर्दिष्ट काम में जुट जाना पड़ता था। योजनाओं को सफल बनाने के लिये यदि आठ घन्टे, दस घन्टे, यहां तक कि चौदह-चौदह घन्टे भी काम करना पड़ा तो क्या हुआ; यदि वर्षों फटे पुराने कपड़ों से काम चलाना पड़ा तो क्या हुआ; यदि पेट के पट्टी बाँधनी पड़ी और अन्य विकसित देशों से आवश्यक मशीनरी मंगाने के लिये अपना अन्न, अपना पनीर, मक्खन, खुद न खाकर अन्य देशों को भेजना पड़ा तो क्या हुआ; यदि लाखों छोटे विद्यार्थियों तक को महीनों तक स्कूल छोड़ कर खेतों में, कारखानों में एवं जंगलों तक में काम करना पड़ा तो क्या हुआ? देश के एक कोने से दूसरे कोने तक, यहां तक कि बर्फीले टंड्राज में भी, साइबेरिया के जंगलों में भी, यूराल के पर्वतों में भी, और एशियाई रूस के दूरस्थ सर्वथा अविकसित देशों में भी, सर्वत्र हथोड़ा और हसिया लेकर आदमी फैल गये और एक नये उत्साह और एक नई स्फूर्ति से अपने अपने निर्णीत काम में जुट गये। कोई नहीं छूटा—बाल, वृद्ध, औरत, मर्द, सब काम में व्यस्त—खेत में, कारखानों में, जहाजी अड्डों में, खानों में, सेना में, सरकारी दुकानों में, ऑफिसों में, स्कूलों और कॉलिजों में एवं अन्वेषणालयों में—ऐसा मालूम होता था कि कोई महान् राष्ट्रीय पर्व मनाया जा रहा है और समारोह को सफल बनाने के लिये सब लोग चाव से काम में जुटे हुए हैं।

किन्तु यह कठिन परिश्रम एवं त्याग उत्सव के दिनों की तरह केवल एक दिन अथवा एक सप्ताह, अथवा अधिक से अधिक केवल एक महीने के लिये ही नहीं था—लोगों को यह परिश्रम करना पड़ा दिन प्रतिदिन सतत वर्षों तक, बीच में सांस लेने की कोई जरूरत नहीं समझी गई।

रूस की प्रथम पंच वर्षीय निर्माण की योजना सन् १९२८ में प्रारम्भ हुई और तीन वर्षों में ही लगातार कड़ी मेहनत से उसे पूरी कर लेने के बाद—उन्हें कुछ थकावट, कुछ उद्वेग सा मालूम हुआ, आंखें भर आईं और उनकी इच्छा हुई कि कुछ तो आराम कर लिया जाय, कुछ तो चैन से खा पी लिया जाय, सो लिया जाय, किन्तु नहीं—लोगों की आवाज नहीं सुनी गई, उनके आंसुओं को देखा नहीं गया, उनके त्याग की कीमत नहीं आंकी गई—नेताओं ने कहा "चाल धीमी कर देना नामुमकिन है—बल्कि इसको और भी तेज करना पड़ेगा। चाल धीमी कर देने का, कार्य शक्ति में कमी आने देने का अर्थ है, पिछड़ जाना। हम पहिले से ही दूसरे विकसित देशों की अपेक्षा १०० वर्ष पिछड़े हुये हैं इस दूरी को हमें केवल १० वर्ष में ही तय कर लेना है, या तो हम ऐसा कर लेते हैं अथवा हम सब कुचल दिये जायेंगे, हम आजादी से जी नहीं पायेंगे" और लोगों को चलते रहना पड़ा—पहिले से भी अधिक तेज रफ्तार से। किन्तु लोगों का यह त्याग यह अथक परिश्रम बेकार नहीं था—इन सबका परिणाम निकला उत्पादन में अभूतपूर्व एवं आशातीत वृद्धि, देश की अभूतपूर्व एवं आशातीत उन्नति।

और केवल दस वर्ष के परिश्रम के उपरान्त :—(१) सन् १९३८ तक औद्योगिक उत्पादन ९०८ प्रतिशत तक बढ़ गया—इसका अर्थ हुआ कि यदि पहले १०० सेर सामान बनता था, तो अब ९०० सेर से भी अधिक बनने लगा, यदि पहले १००० गज कपड़ा बनता था तो अब ९००० से भी अधिक गज कपड़ा बनने लगा,—अर्थात् यदि पहले रूस में बनी औद्योगिक वस्तुयें केवल १०० आदमियों के लिये पर्याप्त थीं तो अब ९०० से भी अधिक आदमियों के लिये काफी थीं।

(२) अन्न उत्पादन में तो इससे भी अधिक विलक्षण बात हुई। जहां १९२७ में १० लाख टन भी उत्पन्न नहीं हुआ था वहां सन् १९४१ में १३ करोड़ टन अन्न खेतों से इकट्ठा किया गया। जरा कल्पना तो कीजिए—१३० गुणा अधिक। और हिन्दुस्तान में द्विगुणा ही अधिक अन्न उत्पन्न हो जावे तो पर्याप्त है। जहां १९२४ में खेतों के लिये

२६०० ट्रैक्टर थे, सन् १९४० में ५२३१०० ट्रैक्टर हो गये—अर्थात् लगभग २०० गुना अधिक।

(३) १९१४–१५ में जहां १९५३ हाई स्कूल जिनमें ४२८०३ शिक्षक एवं ६३५५९१ विद्यार्थी थे वहां १९३९ में १५८१० हाई स्कूल जिनमें ३७७३३७ शिक्षक एवं १०८३४६१२ विद्यार्थी हो गये।

(४) १९१३ में जहाँ केवल ८५९ समाचार पत्र थे जिनकी २७०००००० प्रतियां छपती थीं, १९३८ में वहां ८५०० समाचार पत्र थे जिनकी ३७५०००००० प्रतियां छपती थीं।

राष्ट्र एक छोर से दूसरे छोर तक उन्नत, समृद्ध और हराभरा हो गया। रेगिस्तानों में सब्जियां उगने लगीं, टंड्रा के बर्फीले मैदानों में फल, जमीन में तेल के कुए निकले, और यूराल पर्वतों के पार मशीनरी। मजदूर और किसानों के बच्चे बड़े बड़े इंजीनियर और वैज्ञानिक होने लगे, और स्त्रियां हवाई जहाज–चालक और रूस के दुश्मनों की छातियों पर बम फोड़ने वाले सैनिक। कितना अद्भुत यह उत्थान था—मानों अज्ञान के अन्धकार से घिरा, आलस्य में सोया हुआ एक "महा–मानव" जाग कर उठ खड़ा हुआ हो—और उसको उठ खड़ा देख, तमाम दुनियाँ आश्चर्य-चकित उसकी ओर एक-टक ताकने लगी हो।

एक बुनियादी आर्थिक सिद्धान्त

उन्नति धन की बचत (Saving of money) पर निर्भर रहती है। फिर वह उन्नति चाहे व्यक्ति की हो अथवा राष्ट्र की। पर यह नहीं भूलना चाहिए कि व्यक्ति और राष्ट्र यानी समाज की उन्नति अन्योन्याश्रित हैं। उन्नति का यहां अर्थ है—भौतिक एवं सांस्कृतिक अथवा आध्यात्मिक उन्नति। भौतिक उन्नति अर्थात् जीवन की आवश्यक वस्तुएँ यथा भोजन, कपड़ा, मकान अच्छे मिलें और –हुतायत से मिलें। सांस्कृतिक उन्नति अर्थात्

रहन-सहन में स्वच्छता हो, कलात्मकता हो, साहित्य, कला, विज्ञान का खूब पठन-पाठन हो इत्यादि। धन की बचत—जो उन्नति की आधार-शिला है—निर्भर करती है हमारे त्याग एवं हमारी कंजूसी पर। त्याग अर्थात् जो कुछ भी हम अपने परिश्रम से पैदा करते हैं वह सारा का सारा स्वयं न लेकर उसमें से कुछ अंश समाज के लिए छोड़ दें, अथवा जो कुछ भी हम सामाजिक काम करते हैं, उसकी क़ीमत का कुछ अंश समाज के लिए ही छोड़ दें या समाज को किसी अन्य दूसरे रूप में लौटा दें। कंजूसी, अर्थात् जो पैसा साधारणतया खर्च हो जाना चाहिए था, उसको अपने आवश्यक आराम में कमी करके खर्च न करें और बचाकर अपनी गांठ में रख लें। यही अपनी गांठ में कंजूसी से बचाया हुआ, पैसा यदि हम चाहें ब्याज के बदले में ही सही, समाज अथवा सरकार (स्टेट) को उद्योगों में लगाने के लिए देते हैं, तो यही कंजूसी एक त्याग एक बहुत बड़ी समाज अथवा राष्ट्र-सेवा बन जाती है।

उपर्युक्त बातें कुछ उदाहरणों से समझ में आ सकेंगी। पहले हम इस बात को लेते हैं कि व्यक्ति की उन्नति धन की बचत (Saving) पर निर्भर करती है। ऐसे एक व्यक्ति का उदाहरण लीजिये, जिसकी इतनी कमाई है कि वह साधारणतया खा-पी भर ले। फिर यह मान लीजिये कि यह व्यक्ति ऐसे समाज में रहता है, जिसका संगठन व्यक्तिवादी (Individualism) एवं प्रचलित पूंजीवादी आर्थिक संगठन के सिद्धान्तों पर है, जैसा रूस और चीन को छोड़कर दुनिया के लगभग और सभी देशों में है। ऐसी हालत में जितना वह कमाता है, यदि वह सारा-का-सारा खाने-पीने में ही खर्च कर दे, तो किसी भी प्रकार की सांस्कृतिक उन्नति नहीं कर सकता। किन्तु यदि वह किसी प्रकार कंजूसी करके अपने खाने-पीने से कुछ बचा ले तो उसके पास कुछ दिनों में ऐसा साधन हो सकता है कि वह अपनी सांस्कृतिक उन्नति कर सके। यथा अपने बचे हुए पैसे से वह पुस्तकें उपलब्ध करके अपने ज्ञान को बढ़ा सकता है, या किसी कला में दिलचस्पी लेकर (जैसे चित्रकला, संगीत, काव्य, साहित्य इत्यादि) इसमें कुछ प्रवृत्त हो सकता है। अथवा अपने अवकाश के समय किन्हीं महत्वपूर्ण स्थानों

पर भ्रमण करने के लिए जा सकता है इत्यादि। इन बातों से अपनी सांस्कृतिक उन्नति कर सकता है अथवा वह अपने बचे हुए पैसे को किसी छोटे-मोटे उद्योग में लगा सकता है और इस प्रकार और अधिक पैसा पैदा करके अपने जीवन-स्तर को उच्चतर बना सकता है। अथवा वह यह भी न करे और हम केवल निर्मम भौतिक दृष्टि से ही देखें, तो बचे हुए पैसे का उसके पास इतना जबरदस्त सहारा हो सकता है कि वह आज के जमाने में, आज की हालतों में, प्रतिपल मनुष्य के अन्तर को डराती रहने वाली इस चिन्ता के भार से कि "आज तो खाने को मिल गया, कल क्या होगा"—बचा रह सकता है। पैसे के बल पर इस चेतनामय जीवन में ऐसी दृढ़ता रहना कोई कम बात नहीं है, बल्कि यही तो मानसिक आनन्द का प्राथमिक आधार है। ऐसे ही 'योगी' एवं 'महात्मा' आध्यात्मिक उन्नति करने में सफल हुए हैं, जिनके पास प्रतिदिन एक सेर दूध एवं चार केले अथवा आधा सेर बकरी का दूध एवं चार संतरों का बराबर निश्चित प्रबन्ध रहा है। ऐसे सैंकड़ों संन्यासी देखने में आते हैं, जो भोजन के प्रतिदिन निश्चित प्रबन्ध के अभाव में दबे हुए से रह जाते हैं और जिस परमात्मा, जिस 'परमतत्व' या मोक्ष की खोज में वे घर से निकले थे, उससे वे और भी दूर चले जाते हैं।

राष्ट्रीय उन्नति

फिर ऐसे ही (पूँजीवादी, व्यक्तिवादी) समाज में ऐसे व्यक्ति का उदाहरण लीजिये, जो इतना कमाता है कि साधारणतया काफी अच्छी तरह खाने-पीने-पहनने के बाद भी उसके पास पर्याप्त पैसा बच जाता है। इस अतिरिक्त पैसे को वह व्यक्ति यदि मोज-बहार में उड़ा देता है, तो समाज या राष्ट्र के प्रति वह एक अक्षम्य अपराध करता है। वह अतिरिक्त पैसा, विशेष मौज-बहार से बचा कर उसे किसी उत्पादक उद्योग में लगाना ही चाहिए। यदि यह अतिरिक्त पैसा कृषि या अन्य प्रकार के उद्योग में नहीं लगाया जाय, तो राष्ट्र तथा देश की उन्नति हरगिज नहीं हो सकती। औद्योगिक उन्नति का आधार यही बचा हुआ पैसा (Saved money), यही पूँजी है। उपर्युक्त व्यक्ति या ऐसी

ही स्थिति वाले व्यक्तियों का अतिरिक्त पैसा उत्पादक उद्योगों में लगे--उससे और भी अधिक कमाई अथवा और भी अधिक पूंजी की बचत होगी। वह अधिक कमाई अथवा बचत किया हुआ पैसा और भी नये-नये उद्योगों में लगे ; इसी ढंग से देश अथवा राष्ट्र का औद्योगिक विकास होता है, एवं देश में राष्ट्रीय धन की अभिवृद्धि होती है। पिछले १००-१२५ वर्षों में ग्रेट ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस इत्यादि देशों के औद्योगिक विकास की कहानी इसी प्रकार की है। और इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि बचत किये हुए (Saved money) रुपये के आधार पर उठते हुए, इन देशों ने अभूतपूर्व भौतिक एवं सांस्कृतिक उन्नति की। भौतिक उन्नति यहाँ तक हुई कि अच्छे खाने-पीने के अलावा लगभग प्रत्येक मजदूर के पास आज अपनी स्वयं की मोटरकार है और स्वयं का रेडियो है और सांस्कृतिक उन्नति यहाँ तक कि प्रायः सभी लोग शिक्षित हैं--पहले से बहुत अधिक स्वच्छ एवं स्वस्थ हैं एवं बीमारियों से मुक्त हैं। (पिछले महायुद्ध से उत्पन्न विशेष परिस्थितियों की बात यहाँ छोड़ देते हैं)।

समाजवादी संगठन में पैसे की बचत का महत्त्व

औद्योगिक एवं आर्थिक विकास की जो बात अबतक कही गई है, उसके सम्बन्ध में यह बात कही जा सकती है कि यह औद्योगिक एवं आर्थिक विकास तो मजदूरों का शोषण करके हुआ है। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में साम्यवाद (कम्यूनिज़्म) के प्रवर्त्तक कार्लमार्क्स ने एक नया सिद्धान्त निकाला था, जिसे 'अतिरिक्त क़ीमत का सिद्धान्त' (Theory of surplus value) कहते हैं। इसके अनुसार---मानों एक मजदूर सूत (yarn) बनाता है। जिस और जितनी चीज़ का (रुई मान लो २४ रतल) वह सूत बनाता है---मान लो उसकी क़ीमत पहले से ही २०) रु० है। इस चीज़ का सूत बनाने में मानों २) रु० का कोयला, तेल इत्यादि और लग जाता है। उपर्युक्त चीज़ में से सूत बनने के बाद मानों उसकी क़ीमत ३०) रु० है। इस ३०) रु० में से २०) रु० तो प्रारम्भिक चीज की क़ीमत के गये ; २) रु० सूत बनते वक्त अन्य कुछ सामान लगा, उसके गये ; अब

बाक़ी के जो ८) रु० बचे, वह उस चीज की 'अतिरिक्त क़ीमत' (Surplus value) हुई। यह अतिरिक्त क़ीमत केवल मज़दूर के परिश्रम से ही सूत में पैदा हुई। अतएव यह सब-की-सब मज़दूर की जेब में जानी चाहिए। किन्तु पूँजीपति इसमें से केवल एक भाग ही मानों २) रु० ही मज़दूर को देता है, और बाक़ी ६) रु० खुद रख लेता है। इस प्रकार वह मज़दूर का शोषण करता है। और इस शोषण की कमाई पर पूँजीपति और भी मोटा होता है—अर्थात् उस कमाई को और उद्योगों में लगाकर और भी पैसा कमाता है। आज यह उपर्युक्त क़ीमत का सिद्धान्त सर्वमान्य नहीं। यहाँ तक कि बहुत से समाजवादी अर्थशास्त्री भी इसको नहीं मानते कि ८) रु० जो अतिरिक्त कीमत सूत की आई, वह केवल मज़दूर के परिश्रम का फल है। यह ३०) रु० सूत की कुल क़ीमत——मूल चीज़ रूईके २०) रु०, तेल इत्यादि के २) रु० और मज़दूर के परिश्रम के अलावा, कई अन्य ज़रूरी बातों पर निर्भर है——जैसे बाज़ार की स्थिति यानी बाज़ार में चीज़ की मांग और ज़रूरत इत्यादि। ऐसी स्थिति में यह भी सम्भव हो सकता है कि चीज़ की क़ीमत केवल २३-२४ रु० ही रह जाय या ३५-३६ रु० भी हो जाय, तब तो मज़दूर के द्वारा उत्पन्न की हुई अतिरिक्त क़ीमत एक दशा में उपर्युक्त समझाये गये बजाय ८) रु० के १) या २) ही रह जायेगी। और दूसरी दशा में १३) या १४)। मज़दूर ने उस चीज़ पर परिश्रम तो उतना ही किया, फिर यह फ़र्क़ क्यों?

ख़ैर हम अपनी ओर से बहस के लिए यह मान भी लें कि यह अतिरिक्त क़ीमत केवल मज़दूर के परिश्रम से आती है, तब भी हमारी इस बात में कि औद्योगिक उन्नति का आधार पैसे की बचत पर ही अवलम्बित है कोई फ़र्क़ नहीं आता। औद्योगिक उन्नति करनी है, तो उसमें कहीं-न-कहीं से पैसा या पूँजी बचाकर लगानी ही पड़ेगी। हमारी इससे कोई बहस नहीं कि वह पैसा पूँजीपति की जेब में से आता है या मज़दूर की जेब में से। उपर्युक्त ८) रु० की क़ीमत में से मानलो पूँजीपति मज़दूर का शोषण करके ६) रु० खुद ले गया, तो औद्योगिक

उन्नति या विकास के लिए यह ६) रु० उद्योग में लग ही जाना चाहिए। फिर मानलो यह ६) रु० पूंजीपति के पास न जाकर मज़दूर के ही पास रह जाता है तो भी, यदि औद्योगिक उन्नति या विकास करना है, तो यह रूपया मज़दूर द्वारा बचाया जाकर उद्योग में लग ही जाना चाहिए। यदि मज़दूर उस अतिरिक्त ६) रु० की कमाई को योंही उड़ा देता है और कंजूसी करके बचाता नहीं तो उन्नति सम्भव नहीं।

हम इसी बात का एक दूसरी दृष्टि से भी विचार करते हैं। मानो एक चालू उद्योग है, जिसमें कुल मिलाकर १०० मज़दूर और क्लर्क काम करते हैं। मानलो उस उद्योग में जितनी कमाई होती है, सबकी सब बराबर उन १०० आदमियों में बाँट दी जाती है। और कमाई का एक पैसा भी उन १०० कार्यकरों के अलावा किसी दूसरे के पास नहीं जाता। तो ऐसी स्थिति को हम कहेंगे कि इसमें शोषण बिलकुल भी नहीं होता। इस प्रकार इन १०० आदमियों के पास बँटवारे में जो धन बराबर-बराबर आता है मान लो वे उसमें से एक भी पैसा बचाकर किसी उद्योग में नहीं लगाते। फिर मानो उन १०० आदमियों के अलावा कोई बड़ा १०१ वाँ आदमी उस उद्योग में आता है और ज़बरदस्ती या किसी तरीक़े से ऐसा प्रबन्ध करता है कि उद्योग की कुल कमाई का आधा हिस्सा तो स्वयं अकेला ले जाता है बाक़ी का बचा हुआ हिस्सा उन १०० आदमियों में बराबर-बराबर बाँट देता है। स्वयं अकेला जो आधा हिस्सा ले जाता है, मान लो वह किसी उद्योग में लगा देता है। तो ऐसी स्थिति में हम कहेंगे कि वह बड़ा आदमी उन १०० आदमियों का शोषण करता है। किन्तु मानलो वे ही १०० आदमी, जबकि पूरी कमाई में उनको हिस्सा मिल रहा था, आराम एवं मौज की भावना को त्यागकर, कमाई का आधा-आधा भाग बचाकर सब किसी एक उद्योग में लगा देते, तो ऐसी स्थिति में हम उसे शोषण न कहकर 'त्याग' या ज़्यादा-से-ज़्यादा 'कंजूसी कहते। तात्पर्य इतना ही है कि शोषण कहिये या त्याग या कंजूसी'—किसी भी प्रकार हो रूपये की बचत होनी चाहिए—तभी औद्योगिक विकास और उसके द्वारा राष्ट्रीय धन में वृद्धि होकर फिर सम्पूर्ण राष्ट्र की उन्नति हो सकती है।

रूस में भी, जहाँ का आर्थिक संगठन समाजवादी है, इंगलैण्ड में भी, जहाँ कई उद्योगों का राष्ट्रीयकरण हो चुका है-ऐसी बात बिलकुल भी नहीं कि किसी कारखाने में जितने भी मज़दूर काम करते हों, उस कारखाने की कमाई सब-की-सब उन मज़दूरों के पास चली जाती हो। उन मज़दूरों द्वारा जितनी भी अतिरिक्त क़ीमत पैदा की जाती है—वह अतिरिक्त क़ीमत जो कि मार्क्स के सिद्धान्त के अनुसार सब-की-सब मजदूरों के पास चली जानी चाहिये थी मज़दूरों को न दी जाकर, उसका विशेष भाग सरकार ही (दूसरे शब्दों में राज्य या स्टेट कहिये) अपने पास रख लेती है और सरकार उस रुपये को या तो विशेष औद्योगिक विकास के लिए किसी उद्योग में ही लगा देती है—या फिर लोगों की सांस्कृतिक उन्नति—यथा शिक्षा, स्वास्थ्य आदि की उन्नति—के लिए खर्च करती है। आपने देखा मज़दूर का तो शोषण ही हुआ—जितनी भी अतिरिक्त क़ीमत (Surplus value) उसने पैदा की थी, वह सब-की-सब समाजवादी समाज में भी उसको न मिली। पूँजीवादी समाज से फ़र्क इतना ही रहा कि 'अतिरिक्त क़ीमत कुछ इने-गिने लोगों (पूँजीपतियों) के हाथ में जाने के बजाय सरकार के हाथ में गई—जो उसका उपयोग विशेष औद्योगिक विकास या सांस्कृतिक उन्नति के लिए करती है। इसी प्रकार पूँजीवादी संगठन में यदि पूँजीपति लोग 'अतिरिक्त क़ीमत' उद्योगों के विकास में लगाते हैं—या शिक्षा (स्कूल, कालेजों) में लगाते हैं, तो ठीक ही है, किन्तु यदि वे ऐसा नहीं करते और अपनी कमाई मौज-बहार में उड़ाते हैं, तो उन्हें समाज और राष्ट्र का दुश्मन समझना चाहिए।

किन्तु यह बुनियादी बात तो आपने देख ही ली होगी कि उन्नति के लिए पैसे की बचत (Saving of money) तो होनी ही चाहिए—चाहे वह बचत शोषण द्वारा हो, चाहे स्वेच्छा से त्याग द्वारा। शोषण और त्याग—दोनों वास्तविकत: तो एक ही वस्तु हैं—सिर्फ दृष्टिकोण का भेद है। यदि हम समाज-सेवा की भावना से प्रेरित होते हैं, तो हम इसे त्याग कहेंगे, और यदि हम इस भावना से प्रेरित होते हैं कि पूँजीपति या सरकार (स्टेट) हमारे पास से हमारी मेहनत का पैसा

ज़बरदस्ती लेती है, तो हम इसे शोषण कहेंगे । उत्तम स्थिति तो यही है कि हम "समाज के प्रति हमारा कुछ उत्तरदायित्व है" इस भावना से प्रेरित हों—और हम कुछ बचावें—त्याग करें । यही त्याग समाज अथवा राष्ट्र की उन्नति के मूल में है । यह एक आदि सत्य है और यह सत्य तब तक बना रहेगा; जब तक सारी दुनिया में किसी प्रकार—किसी अभूतपूर्व वैज्ञानिक उन्नति द्वारा हो या जनसंख्या में किसी अचानक अभूतपूर्व कमी द्वारा हो—ऐसी स्थिति नहीं आ जाती कि सब वस्तुओं का इतना बाहुल्य न हो जाय कि जो जितना चाहे समाज के भण्डार में से खुशी-खुशी उठा ले । ऐसी स्थिति अभी तक न तो रूस में और न अमेरिका में और न और कहीं आई है । पता नहीं भविष्य में कभी ऐसी स्थिति सम्भव है या नहीं । जब तक ऐसी स्थिति नहीं आती तब तक तो उन्नति का आधार त्याग, कजूंसी (त्याग द्वारा धन की बचत कंजूसी के द्वारा धन की बचत) ही है ।

मानव में प्रेम भावना और विवाह संस्था का विकास

मानव जीवन में प्रेम और विवाह का प्रश्न भी एक जटिल प्रश्न है । इसकी गुत्थियों से मुक्त होने के लिये इस प्रश्न का ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण आवश्यक है ।

अज्ञान, संस्कार और स्वभाव वश प्रायः हम किसी भी प्रचलित सामाजिक रीति-नीति या विचारधारा के विषय में यह विश्वास करने लग जाते हैं कि यह अनादिकाल से इसी रूप में चली आ रही है और यही सत्य और सर्वोत्कृष्ट है, अपरिवर्तनशील और चिरन्तन है । उदाहरण स्वरूप, हम साधारणतः यही मानते हैं कि हमारी प्रेम भावना जिसमें प्रेमी और प्रिय भावात्मक अभिन्नता की अनुभूति करते हैं, मानव मन में हमेशा से ही विद्यमान रही है, एवं आजका एक पत्नीत्व या एक

पतित्व का वैवाहिक आदर्श प्रारम्भ से ही विद्यमान था। किन्तु बात वस्तुतः ऐसी नहीं है। आदि मानव के जमाने में उक्त प्रेम-भावना का केवल अभाव ही नहीं था किन्तु यह सर्वथा अज्ञात थी। इसी प्रकार उसी काल में एक पति पत्नीत्व की बात तो दूर रही किसी भी प्रकार की वैवाहिक संस्था भी विद्यमान न थी। आदि मानव-काल से वर्तमान काल तक मानव समाज में उक्त अर्थ में प्रेम एवं वैवाहिक आदर्श की उपलब्धि तक, प्रेम भावना और विवाह संस्था के विकास की परिवर्तनशील एक रोचक कहानी रही है। संक्षिप्त रूपरेखा में उसके अध्ययन का प्रयास हम यहाँ करेंगे।

यह अध्ययन परिवार एवं समाज संगठन के इतिहास की पृष्ठ-भूमि में ही हो सकता है।

समाज संगठन का आरंभ :—प्रारंभ में तो आदमी बिलकुल जंगली था। प्रकृति में बिलकुल तैयार खाने योग्य वस्तुओं जैसे फल, अखरोट, कंदमूल इत्यादि को इकट्ठा करके वह अपना भरण पोषण कर लेता होगा। गुफाओं में अथवा पेड़ों पर रहता होगा अन्य जन्तुओं की भाँति अभी तक नंगा ही रहता होगा। किसी विशेष सामाजिक भावना का विकास उसमें अभी तक नहीं हो पाया होगा। वह ऐसे ही रहता होगा जैसे कई जातियों के जंगली जानवर बिना किसी संगठन के रहते हैं। किसी भी पुरुष का किसी भी स्त्री से समय विशेष पर संबन्ध हो जाया करता होगा, जैसे पशुओं में हो जाया करता है। अर्थात वे पति और पत्नी के सम्बन्ध के भाव को नहीं समझते होंगे, जैसे पशु नहीं समझते हैं। मानव की उस प्रारंभिक स्थिति में कहाँ प्रेम भावना की अनुभूति और कहाँ विवाह संस्कार की बात !

मानव के इस प्रकार के आदिकालीन जीवन में पारिवारिक भाव बिलकुल विद्यमान नहीं था। मानव के प्रकट होने के बाद पारिवारिक जीवन के प्रारंभ होने में अनेक वर्ष लगे होंगे।

प्राचीन काल में जब विवाह प्रथा न थी यानी जब किसी स्त्री का सम्बन्ध किसी भी पुरुष से हो जाया करता था, और बदलता रहता था, उस समय परिवार का यदि कोई अर्थ था, तो केवल इतना ही—'कि

स्त्री और उसके बच्चे'। बच्चों का सम्बन्ध भी तभी तक रहता था जब तक वे कुछ बड़े होकर स्वयं अपना भरण पोषण करने लायक न हो जाते थे। ऐसी स्थिति, संभव है, काफी लंबे अरसे तक रही होगी।

आदिम साम्यवाद :—पारिवारिक भावना चाहे जल्दी नहीं आई हो किन्तु मानव ने समूह या यूथ बना कर रहना तो बहुत जल्दी ही प्रारंभ कर दिया होगा। वह समूह या यूथ ऐसा था मानो कई मनुष्य प्राकृतिक विषम परिस्थितियों से एवम् जंगली पशुओं से अपनी रक्षा करने के लिये एक साथ समूह बना कर रहने लगे। इस स्थिति को हम आदिम साम्यवाद (Primitive communism) की स्थिति कह सकते हैं। इस समय में सभी मिलकर एक दूसरे की रक्षा करते थे, साथ मिलकर खाद्य वस्तुओं का (फल मूखे, फलादि) संग्रह करते थे और स्त्री पुरुष सब साथ ही परिश्रम करते थे। दूसरी तो कुछ संपत्ति होती नहीं थी, खाद्य सामग्री के रूप में ही थोड़ी बहुत संपत्ति एकत्रित हो जाती होगी। यह संपत्ति वैयक्तिक नहीं किन्तु सामूहिक थी। समूह के व्यक्तियों में किसी प्रकार की असमानता नहीं थी। स्त्री पुरुष का सम्बन्ध भी स्वतंत्र था। समूह में कोई भी स्त्री-पुरुष परस्पर मिल सकते थे। किसी भी प्रकार के पारिवारिक सम्बन्ध का अस्तित्व नहीं था।

मातृ-प्रधान समाज :—किन्तु धीरे-धीरे परिवार का भाव आने लगा। इस भाव का प्रारंभ स्त्री के संबन्ध से हुआ। स्त्री का किसी पुरुष से संपर्क होता, स्त्री के बच्चे उत्पन्न होते। बच्चे बड़े होते—उन बच्चों का वंशगत सम्बन्ध स्त्री से ही जोड़ा जाता, क्योंकि यह तो पता होता नहीं था कि पिता कौन है, अतएव उस स्त्री और उसके पुत्र पुत्रियों का मिलकर एक पारिवारिक समूह बन जाता था। इस प्रकार सम्बन्ध का निर्णय करने में प्रधानता स्त्री अथवा माता की ही रहती थी। अतः ऐसे समाज को हम मातृ-प्रधान समाज कहते हैं। आदिम युग में सब जगह मानव इस सामाजिक स्थिति में होकर गुजरा है। ऐसे समाज में अभी संपत्ति सामूहिक थी ; एवं जीविका के प्रधान साधन फल संचय, मछली और जानवरों का शिकार थे। फल एकत्रित करने

में अथवा शिकार करने में अभी स्त्री पुरुष से पीछे न थी। स्त्री और पुरुष के बीच में घर और बाहर के काम का बँटवारा (स्त्री पुरुष में) नहीं हुआ था। सारे परिवार को मिलकर एक साथ भोजन एकत्रित करना या शत्रुओं से मुकाबला करना पड़ता था। ऐसी स्थिति में हम यह कल्पना नहीं कर सकते कि कोई भी स्त्री-पुरुष सम्बन्ध परिवार के बाहर होता। स्त्री-पुरुष सम्बन्ध परिवार के भीतर ही होता था। अर्थात परिवार की मुखिया स्त्री के पुत्र पुत्रियों में ही परस्पर स्त्री पुरुष का सम्बन्ध हो जाता था। आज की पारिवारिक भाषा में हम यों कह सकते हैं कि भाई बहिन में ही स्त्री पुरुष सम्बन्ध मान्य था। ऐसी स्थिति मानव विकास की प्रारम्भिक सभ्य स्थिति थी। आज तक भी कई आदिम जातियों में जैसे (अमेरिका की कई रैड इन्डियन जातियों में) एवम् कई सभ्य जातियों में भी (जैसे मद्रास के तामिल लोगों में एवम् मलाबार के नैय्यार लोगों में) विवाह में मामा भांजी का कोई भेद नहीं माना जाता एवम् सामाजिक संगठन मातृ-प्रधान होता है; अर्थात संपत्ति का उत्तराधिकारी पुत्र नहीं किन्तु पुत्री मानी जाती है।

मातृप्रधान एवम् पितृप्रधान समाज के बीच संक्रांति काल :—उपरोक्त प्रकार की आदिम साम्यवादी एवम् मातृ-प्रधान स्थिति से विकसित होकर सामाजिक संगठन की वह स्थिति आई जिसे "जनयुग" कहते हैं। जन का अर्थ है, एक वंश या कुल या कबीला। (Tribe)

प्रारम्भिक अवस्थाओं में जिसका वर्णन ऊपर हो चुका है वंश का अस्तित्व स्त्री के सम्बन्ध से ही माना जाता था अर्थात एक स्त्री के पुत्र पुत्रादि, उन्हीं पुत्र पुत्रादि में परस्पर के सम्बन्ध से परिवार का बढ़ना और उस परिवार के सब लोगों का समुदाय एक 'कुल'। किन्तु बाद में ज्यों ज्यों जीविका के साधनों में, जीविकार्जन के ढंग में परिवर्तन और विकास होने लगा त्यों त्यों स्त्री-पुरुष सम्बन्ध एवं पारिवारिक संगठन के रूप में भी परिवर्तन और विकास होने लगा। मनुष्य फल-संचय और शिकारी अवस्था को धीरे धीरे पार करता हुआ यह महसूस

करने लगा कि कुछ जानवर ऐसे हैं कि उन्हें मारकर खाने की बजाय उन्हें पाल कर रखना अधिक लाभदायक है। अतः गाय, बैल, घोड़ा, ऊँट, बकरी इत्यादि जानवरों को जंगल से लेकर मनुष्य उन्हें पालने लगा, और उनको अपना सेवक बना लिया। कुछ पशु दूध देने लगे, कुछ पशु बोझा ढोने लगे। प्रकृति पर आदमी की यह बड़ी विजय थी। इसके साथ साथ पशु पालन करने वाला आदमी, स्त्री और उसके बच्चों को, चाहे उनका पिता कोई भी हो, आधीन रखने चाहने लगा। इस तरह पुरुष और स्त्री के स्थायी सम्बन्ध की परिपाटी शुरू हुई। विवाह के लिये स्त्री को कभी राजी से कभी जोर जबरदस्ती से और कभी उसे या उसकी माता को कुछ प्रलोभन देकर लाया जाने लगा।

पशु-पालन की स्थिति को पार कर मनुष्य पशुओं की सहायता से खेती करने लगा। यह लिखा जा चुका है कि पशु-पालन के साथ साथ पुरुष स्त्री का सम्बन्ध स्थायी होने लग गया था। अब स्थायी विवाह का चलन और भी अधिक होने लगा क्योंकि किसान को अपने कार्य में स्त्री बच्चों की मदद की बहुत जरूरत होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जीविका के साधन और जीवनोपयोगी वस्तुओं के उत्पादन या प्राप्ति के ढंग में परिवर्तन होते ही वैवाहिक, पारिवारिक, सामाजिक संबन्धों, मान्यताओं और संगठन के रूपों में भी अभूतपूर्व क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए।

पितृ-प्रधान समाज :— मानव प्रारम्भिक साम्यवाद की स्थिति को पार करता हुआ पशु-पालन और कृषि की स्थिति तक पहुँचा। इसके साथ साथ धीरे धीरे मातृ या स्त्री प्रधानता की जगह पितृ या पुरुष प्रधानता ने ले ली। स्त्री का स्थान अब पुरुष से निम्न हो गया। स्त्री और पुरुष में श्रम का विभाग होगया, स्त्री घर के अन्दर का काम करे और पुरुष बाहर का। पहले इस प्रकार का कोई श्रम विभाजन न था। परिवार में और समाज में पुरुष का एकाधिपत्य स्थापित हुआ। पहले समाज में विवाह नाम का कोई नियम न था। पुरुष स्त्री समागम स्वतंत्र था। किसी भी स्त्री का किन्हीं भी पुरुषों से, किसी भी पुरुष का किन्हीं भी स्त्रियों से सहवास मान्य था; किन्तु

समाज में जब पुरुष प्रधान होगया, सम्पत्ति का उत्पादन और स्वामित्व उसके हाथ में चला गया तो स्वामित्व के भाव का आरोप उसने स्त्री पर भी किया और शनैः शनैः, "विवाह प्रथा" 'विवाह संस्था' (the institution of marriage) का प्रचलन हुआ।

विवाह संस्था :—ऐसा अनुमान है कि आदि-मानव में कामवासना उसी प्रकार नियमित थी जैसी आजकल कई जंगली जानवर अथवा पशुओं में देखी जाती है—जिनमें विशेष ऋतु या काल में ही कामवासना का प्रादुर्भाव होता है; किन्तु श्रम विभाजन और पुरुष में सम्पत्ति और स्वामित्व की भावना के साथ साथ आदमी में धीरे धीरे कामवासना भी बढ़ी। अब वह यही प्रयास करने लगा कि सबसे अधिक सुन्दर एवं घर के काम-काज में सबसे अधिक उपयोगी स्त्री पर केवल उसी का स्वामित्व रहा करे। सभी आदमियों का यही प्रयास रहता था अतः एक ही स्त्री के लिए अनेक पुरुषों में लड़ाई झगड़े होने लगे। इस अशान्ति और अव्यवस्था को दूर करने के लिए ही धीरे धीरे विविध नियम मान्य हुए। विवाह प्रथा जारी की गई। विवाह का अर्थ था कि सार्वजनिक रूप से किसी विशेष स्त्री का किसी विशेष पुरुष से सहवास सम्बन्ध स्थिर कर लिया जाता था और यह मान लिया जाता था कि जिस स्त्री का यह सम्बन्ध निश्चित हो गया उससे दूसरे आदमी का यह सम्बन्ध न हो। किन्तु समाज में पुरुष की प्रधानता थी इसलिए यह होने लगा, कि पुरुष तो कई विवाह करके कई स्त्रियों को एक साथ रखने का अधिकारी हुआ किन्तु स्त्री के लिए साधारणतया यह बात सम्भव न हो पाई कि वह कई पुरुषों से विवाह करके एक साथ कई पति रख ले, यद्यपि प्रारम्भिक काल में कई जगहों पर यह प्रथा भी रही। तिब्बत एवं हिमालय के कुछ प्रदेशों में वहाँ की विशेष कुछ परिस्थितियों के कारण आज भी बहुपतित्व की प्रथा प्रचलित है, और उसमें किसी प्रकार की अड़चन नहीं आती।

विवाह संस्था का प्रचलन अति प्राचीन काल में, आदि मानव जब असभ्य जंगली अवस्था को तो पार कर चुका था किन्तु अभी 'अर्द्ध-सभ्य' अवस्था में था, तभी हो गया था। ऐसा मान सकते हैं कि मानव

इतिहास का वह काल जिसमें विवाह संस्था का अस्तित्व नहीं था, उस काल की अपेक्षा जिसमें विवाह एक सामाजिक संस्था के रूप में मान्य रहा है, हजारों वर्ष अधिक लम्बा रहा है। जब से विवाह प्रथा चालू हुई तब से आज तक देश काल के अनुसार विवाह के अनेक भेद रहे हैं और भिन्न भिन्न दृष्टि-कोणों से विवाह की भावना में विकास हुआ है। शुरू शुरू में तो विवाह बलात्कार द्वारा हुआ होगा अर्थात किसी स्त्री से बलात्कार किया और फिर उसे अपनी स्त्री बना लिया। ऐसा विवाह आस्ट्रेलिया, न्यूगिनी, फिजी आदि द्वीपों के मूल निवासियों में आज भी प्रचलित है। इसी प्रकार भिन्न भिन्न कालों अथवा देशों में हरण, क्रय, सम्बन्धियों द्वारा, और प्रेम भाव द्वारा विवाह निश्चित् हुए हैं। धीरे धीरे विवाह-संस्कार के समयानुकूल अनेक विधि-नियम भी बने। पहले विवाह एक गोत्र, वंश या कुल में ही होता था जिसमें भाई बहिन मामा भाँजी का कोई भेद नहीं था। फिर सगोत्रक विवाह अमान्य ठहराया गया और गोत्र छोड़कर विवाह होने लगे। फिर भिन्न भिन्न देशों में जिस जिस प्रकार समाज का विकास हुआ उसी के अनुरूप वैवाहिक नियम, मान्यताऐं विधियाँ भी बनती विगड़ती रहीं। ध्यान में रखने की बात इतनी ही है कि विवाह संस्था कोई सनातन अपरि-वर्तनशील चीज़ नहीं है।

विवाह और परिवार :—यह बात विशेष ध्यान में रखनी चाहिए कि परिवार का संगठन मूलतः विवाह के रूप पर आश्रित होता है। जब आदिम साम्यवाद की अवस्था थी स्त्री-पुरुष समागम बिल्कुल स्वतंत्र था। उस समय परिवार का यदि कोई अर्थ था तो माँ और उसके बच्चे। उस परिवार में पुरुष का कोई स्थान न था। विवाह प्रथा जारी होने पर ही वास्तविक परिवार का रूप हमारे सामने आता है। विवाह प्रथा का प्रचलन होने पर स्त्री, उसका पति, और दोनों की संतानें परिवार में गिनी जाने लगीं। बहुत प्राचीन काल में ही दो तरह के परिवारों का विकास हुआ, एक तो मातृ-सत्ता प्रधान जिसमें वंश माता नानी आदि के नाम से चलता था, सम्पत्ति पर अधिकार स्त्री का होता था और सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी स्त्री की बड़ी पुत्री होती थी।

इस प्रकार का परिवार आजकल भी वर्मा एवं मलावार की कई जातियों में पाया जाता है। किन्तु विशेपकर जिस परिवार का विकास हुआ वह पितृ-सत्ता प्रधान परिवार था जिसकी स्थापना समाज में पुरुष की प्रधानता एवं सम्पत्ति पर उसके एकाधिपत्य अधिकार के साथ साथ हुई। इस प्रकार के परिवार में वंश पिता-पितामह आदि के नाम से चलता है, सम्पत्ति पर अधिकार पुरुष का होता है और सम्पत्ति का उत्तराधिकारी ज्येष्ठ पुत्र होता है, या कहीं कहीं सभी पुत्र वरावर भाग के अधिकारी होते हैं। पुत्री का कोई भी अधिकार मान्य नहीं होता।

विवाह और परिवार संस्था के प्रचलन के वाद ही मानव में तथा-कथित पारिवारिक सद्‌गुणों यथा मातृ-पितृ भक्ति, मातृ-पितृ स्नेह, मातृ स्नेह, इत्यादि का विकास धीरे धीरे हुआ। मानव में इन भावों का अस्तित्व सनातन काल से या जन्म-जात नहीं माना जा सकता। स्त्री पुरुष का सम्वन्ध भी प्रारम्भ में यौन आवश्यकता जन्य ही था, उस सम्वन्ध में वह भाव विद्यमान नहीं था जिसे हम आज प्रेम कहते हैं।

भिन्न भिन्न युगों में परिवार :—ऐसा मान सकते हैं कि मानव विकास के नव-पाषाण युग तक (ईसा पूर्व आठ-दस हज़ार वर्ष) जब कृषि और पशुपालन प्रधान धन्धे थे विवाह और पितृ-प्रधान संस्था की स्थापना और उसका प्रचलन हो चुका था, किन्तु फिर भी विवाह वन्धन अभी काफी शिथिल होंगे और एक स्त्री का वैवाहिक संस्कार के पूर्व किसी पुरुष के साथ सहवास या विवाह के उपरान्त भी पति के अतिरिक्त किसी पर पुरुष से सहवास कोई वहुत ही अनैतिक कृत्य नहीं समझे जाते रहे होंगे। पति की मृत्यु के वाद स्त्री या पत्नी की मृत्यु के वाद पुरुष अवश्य ही फिर विवाह कर सकते थे। विवाह सम्वन्धी नैतिकता के विचार और भावों की प्रतिष्ठा समाज में अभी धीरे धीरे होने ही लगी होगी। मानव सभ्यता के विकास के नव-पाषाण युग के वाद सभ्यता के वे युग आए जिन्हें दासता युग, सामन्ती युग एवं पूँजीवादी युग नाम दिए गये हैं। इन युगों की विशेषताओं में से संसार के प्रायः सभी सभ्य देशों के लोग थोड़े वहुत काल के अन्तर से गुजरे

हैं। इन युगों में परिवार पितृ-प्रधान रहा किन्तु स्त्री की स्वतंत्रता जो आदिम साम्यवादी युग में पूर्ण थी, जो नव पाषाण युग में कम होने लगी थी, धीरे धीरे पूर्णतः हर ली गई। पुरुष को शिक्षा-दीक्षा सम्पत्ति आदि के सब अधिकार रहे स्त्री इनसे वंचित रही ; पुरुष को बहु-पत्नीत्व का अधिकार रहा किन्तु स्त्री को बहु-पतित्व का नहीं, कुछ अपवादों को छोड़कर। पुरुषों के आमोद प्रमोद के लिए समाज में वैश्याऐं एक सामाजिक संस्था बन गई, अतः विवाहित पुरुष के लिए कई स्त्रियां अथवा दासियां रखना अथवा वैश्यागमन करना भी--असामाजिक अथवा अनैतिक कार्य न था किन्तु स्त्री का अपने पति के अतिरिक्त किसी भी प्रकार का सहवास या अपने पति की मृत्यु के बाद दूसरा विवाह घोर अनैतिक असामाजिक कार्य समझा जाने लगा। इन युगों में जो धार्मिक अथवा सामाजिक नियम गढ़े गये वे भी सभी ऐसे बने जो व्यक्तिगत सम्पत्ति, सामन्तों अथवा अधिकारी वर्गों की सत्ता एवं स्त्री की निम्नता की परिपुष्टि करते थे। परिवार में भी पुत्र की मान्यता अधिक थी, पुत्री तिरस्कृत होती थी---पिता सर्वेसर्वा था, स्त्री दासी के समान।

आधुनिक युग में स्त्री और पुरुष की समानता का भाव फिर से उदित होने लगा है, एवं स्त्री की प्रतिष्ठा, और यह भाव कि उसके व्यक्तित्व का पुरुष के व्यक्तित्व से स्वतंत्र और समान अस्तित्व है वास्तविक रूप से साकार होने लगा है। किन्तु आज की परिवर्तित होती हुई परिस्थितियों में भी कभी भी यह कल्पना तो नहीं की जाती कि निकट भविष्य में भी कभी विवाह और परिवार संस्था मिट जाय। हाँ, विवाह और परिवार संस्था रहते हुए इतना अवश्य है कि विवाह और परिवार और प्रचलित मान्यताओं में समयानुकूल अनेक परिवर्तन होजायं, एवं पुरुष और स्त्री की पारस्परिक प्रतिष्ठा और समानता के विचारों में भी आमूल परिवर्तन हो जाय, जैसा हो भी रहा है।

स्त्री और पुरुष का व्यक्तित्व :—स्त्री पुरुष या पति पत्नी का परस्पर व्यवहार किस हद तक इस भाव से प्रेरित होता है कि दोनों का अपना अपना व्यक्तित्व स्वतंत्र है—यह बात इस पर बहुत कुछ आधारित

है कि समाज का आर्थिक ढांचा किस प्रकार का है। यदि समाज में ऐसी आर्थिक व्यवस्था है कि पुरुप अपना अलग कमाता है और स्त्री भी अपना स्वतंत्र कमाती है तो बहुत कुछ सम्भव है कि पुरुप स्त्री दोनों में स्वामी दास जैसा सम्बन्ध नहीं वरन समान सहयोग, मानवीय समानता और स्वतंत्रता का सम्बन्ध हो। यदि पुरुप स्त्री में से कोई भी एक जीवन की अपनी अनिवार्य आर्थिक आवश्यकता तथा अपनी रोटी के लिये दूसरे पर अवलम्बित है तो यह स्थिति परवशता की होगी और ऐसी स्थिति में दोनों का परस्पर व्यवहार और मेल सहयोग, मानवीय समानता और स्वतंत्रता के भाव पर आधारित नहीं हो सकता। पुरुप और स्त्री में आर्थिक विपमता होते हुये भी यदि ऐसी कल्पना की जाय——जैसा कि भारतीय परिवारों के विपय में की जाती है——कि परिवार में पुरुप और स्त्री एक-आत्म, अभिन्न, समान सहयोगी और स्वतंत्र रह सकते हैं तो यह केवल भ्रम मात्र है, ९९ प्रतिशत परिवारों में ऐसा नहीं देखा जाता। मानव अभी तक अपने साधनों में इतना सम्पन्न नहीं हो पाया है, प्रकृति पर इतनी विजय प्राप्त नहीं कर पाया है कि आर्थिक आवश्यकतायों अथवा आर्थिक परिस्थितियों से वह अपने आपको पूर्णतया निरपेक्ष रख सके। कि केवल पति कमाता है, और पत्नी खाती है और घर का काम देखती है और फिर भी दोनों में पूर्ण सहयोग, प्रेम और समस्त परिवार में पूर्ण सामन्जस्य बना रहता है, स्त्री के व्यक्तित्व का हनन नहीं होता,——यह केवल एक भावजन्य बात है, वस्तु स्थिति ऐसी नहीं; परवशता और मूढ़ संस्कार जन्य गतिहीन आत्म सन्तोप की स्थिति है, स्वतन्त्र विकास की स्थिति नहीं। भारतीय परिवारों में पुरुप और स्त्री में जिस द्वन्द्व और विरोध रहित समस्थिति की बात की जाती है, वह स्थिति तो ऐसी ही है जैसे अनेक पीढियों से गुलाम रहते हुए गुलामों को अपनी गुलामी का ही भान नहीं रह जाता, और अपनी गुलामी की ही स्थिति को अपना धर्म और कर्त्तव्य समझ कर वे अपना जीवन मूढ़ संतोप में बिता देते हैं। जहाँ स्त्री समाज की नागरिक नहीं केवल भार्या और रमणी ही हो, ऐसा समाज गतिहीन होता है। मुक्त आनन्द की ओर उसकी

प्रगति नहीं होती, तामसिक स्थिति की ओर धीरे धीरे उसकी अवगति होती रहती है। और स्त्री घर के बाहर आर्थिक, सामाजिक, राजकीय, सांस्कृतिक क्षेत्र में काम करे या नहीं, यह प्रश्न या समस्या भारत में सम्पूर्ण जनसंख्या की केवल ८–१० प्रतिशत उच्च या मध्यम वर्ग के लोगों की समस्या है ; अन्यथा शेष ९० प्रतिशत निम्न वर्ग के समाज की स्त्रियाँ तो घर के बाहर खेत खलिहान में, गृह एवं कुटीर उद्योगों में एवं आधुनिक कारखानों में प्रायः आदमी के बराबर काम करती ही हैं––और करना ही पड़ता है। स्त्री का क्षेत्र घर है या बाहर यह तो बहुत थोड़े से झूठमाठ सभ्यता और संस्कृति के संरक्षक कहे जाने वाले, झूठी शान में मरने वाले उच्च या मध्यवर्ग के लोगों की बात है। इसमें तथ्य कुछ नहीं।

हाँ, प्रश्न यहीं आता है कि साधारण जन-समाज की स्त्रियाँ भी खेत खलिहान, कुटीर और कारखानों में काम करके जो उत्पादन या कमाई करती हैं, उस पर उनका अधिकार नहीं होता, वरन् वह भी पुरुष की ही कमाई मानी जाती है, और उस पर पुरुष का ही स्वामित्व रहता है। कृषक परिवार में तो पुरुष और स्त्री दोनों के परिश्रम से उत्पादित धन पर कानूनी, सामाजिक एवं अन्य प्रत्येक दृष्टि से पूर्णतः पुरुष का स्वामित्व माना ही जाता है ; मजदूर परिवार में भी जहाँ स्त्री अपनी अलग मजदूरी करती है, उसकी कमाई पर सामाजिक एवं धार्मिक रूढ़ि से पुरुष का ही अधिकार माना जाता है। बस यही स्थिति विषम स्थिति है, और वस्तुतः यदि कोई समस्या है तो यही :––स्त्री घर के अलावा घर के बाहर उत्पादन का काम करते हुए भी, प्राण धारण किये रखने के लिये रोटी की अपनी अनिवार्य आवश्यकता में पुरुष पर अवलंबित है, परवश है ; आत्म निर्भर नहीं। समस्या का हल यही है कि पारिवारिक कृषि या कुटीर उद्योग की कमाई में, कारखाने के अपने पृथक काम की कमाई में, वंशानुगत सम्पत्ति में, या आर्थिक संगठन का रूप किसी भी प्रकार का हो उसमे स्त्री का अपने कार्य के अनुपात में कमाई का अपना स्वतंत्र हिस्सा हो,––प्रत्येक स्त्री आर्थिक दृष्टि से परवश न हो, स्वावलम्बिनी आत्म निर्भर हो। और जो

संसार में समाज की गति का अध्ययन कर रहे हैं वे स्पष्ट देख रहे हैं कि समाज का विकास इसी दिशा की ओर हो रहा है। सब देशों में, सब समाजों में गति का अंतर हो सकता है, दिशा का अंतर नहीं।

यदि समाज की गति इसी ओर है तो होने दीजिये, उसमें भय की क्या बात है। ठीक है, नवीन के प्रति इसीलिये प्रेम नहीं होना चाहिये कि वह नवीन है, किन्तु प्रत्येक वस्तु-स्थिति, दशा और उपस्थित समस्या को रागद्वेष विहीन निर्मल शुद्ध बुद्धि से समझने का तो प्रयास करना चाहिये। यदि ऐसा करेंगे तो हम यह भी देखेंगे कि प्रत्येक प्रस्तुत प्रश्न के प्रति हम सबका प्रायः एक ही सा दृष्टिकोण बनता है और हम एक ही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। और यदि अपनी शुद्ध बुद्धि से हम देखें कि किसी भी प्रचलित व्यवस्था, रीतिनीति में परिवर्तन श्रेयस्कर है तो भय रहित होकर हमें परिवर्तन कर डालना चाहिये। भय तो जड़ता का चिन्ह होता है, और उसका मूल है हमारी यह अज्ञानता कि हम इस सत्य को नहीं पहिचानते कि शनैः शनैः परिवर्तन—परिमाणात्मक एवं गुणात्मक परिवर्तन—ही सृष्टि विकास का ढंग है। और फिर वस्तुतः यदि हममें यह भावना है कि मनुष्य जाति श्रेष्ठतर हो, उसे अधिक सुख और आनन्द की अनुभूति हो, तो यह आवश्यक है कि स्त्री पुरुष का प्रेम आर्थिक सामाजिक एवं परम्परागत विवशता की स्थिति से उत्पन्न परवशता का प्रेम न हो, वरन् पुरुष और स्त्री की समानता और दोनों की आर्थिक सामाजिक स्वतंत्रता की स्थिति से उत्पन्न सच्चा प्रेम हो।

पुरुष स्त्री की परस्पर आर्थिक स्वतंत्रता की स्थिति में, ऐसा लगता है, कि पारिवारिक सदस्यों की संख्या अपेक्षाकृत सीमित रहा करे, विशेषकर जब कि विवाह की शारीरिक आवश्यकता की आयु की अपेक्षा सांस्कृतिक आयु बहुत देर से आने लगी है, अर्थात् सांस्कृतिक (न केवल आर्थिक बल्कि शैक्षणिक आध्यात्मिक) प्रभावों के फलस्वरूप विवाह बड़ी आयु में होने लगे हैं, और जबकि विज्ञान ने सरल और सफल ऐसे साधन उपस्थित कर दिये हैं कि संतानोत्पत्ति पति पत्नी की इच्छा पर आधारित रह सके। ऐसी स्थिति में पति पत्नी का बन्धन रूढिगत,

आर्थिक एवं सामाजिक-धार्मिक बन्धन न होकर अधिकतर सांस्कृतिक एवं एक समकक्ष साथी का बन्धन होगा, जिसकी सफलता मुख्यतया दोनों में परस्पर मनोवैज्ञानिक साम्य, उच्च सांस्कृतिक विकास और एक दूसरे के मानसिक परिचय पर निर्भर करेगी। यह अनिवार्य नहीं कि विवाह और परिवार का यह रूप विश्व में सभी जगह एक ही काल में आ जाय; ऐसा होना समाज विशेष के आर्थिक संगठन के रूप और शिक्षा प्रसार पर निर्भर करेगा।

पूर्वकाल में तो परिवार एवं पति पत्नी को एक दूसरे से बांधे हुए कई प्रकार के बन्धन होते थे; जैसे आर्थिक, धार्मिक, या परस्पर निर्भरता या रक्षात्मकता का बन्धन, इत्यादि। किन्तु आज की परिवर्तित होती हुई आर्थिक सामाजिक परिस्थितियों में तो यह सम्भव है कि केवल एक ही बन्धन रह जाय—केवल स्नेह या प्रेम का बन्धन। एक बन्धन कई बन्धनों से कमजोर पड़ता ही है, अतः वर्तमान काल में इस बात की अपेक्षाकृत अधिक सम्भावना है कि परिवार के सदस्यों का अथवा पति पत्नी का सम्बन्ध शिथिल या कम स्थायी हो। ऐसी स्थिति में सम्बन्ध को मजबूत और स्थायी बनाये रखने के लिये अपेक्षाकृत अधिक मजबूत और उच्च चरित्र की आवश्यकता होगी; अन्यथा परिणाम बुरा निकल सकता है। जब परिवार और पति पत्नी के बन्धन अनेक थे तब चरित्र की व्यक्तिगत कमियाँ यदि होती थीं तो छिप जाया करती थीं या परिस्थितिवश सहन करली जाती थीं, किन्तु अब जब बन्धन ही केवल एक रह जायगा, यथा प्रेम और व्यक्तित्व का बन्धन तो विवाह की सफलता और उसका स्थायित्व इसी पर निर्भर होगा कि कहां तक स्त्री-पुरुष एक दूसरे के प्रति सच्चे हैं और फिर किस गहराई तक वे एक दूसरे के व्यक्तित्व को समझते हैं एवं एक दूसरे के व्यक्तित्व के विकास की प्रेरक शक्ति बनते हैं।

धर्म की आवश्यकता ?

धर्म की उत्पत्ति इतिहास के वर्बर युग में हुई। उस समय वुद्धि का इतना विकास न हो पाया था कि मनुष्य तर्क या अन्वेषण द्वारा सव वातों के 'कारणों' को समझ लेता। इसलिए जिस किसी भी शक्ति ने उसके कार्यों में वाधा डाली, उसी को मनुष्य महान् देवता समझ कर पूजा करने लग गया। सव देशों में वहां के वर्वर कालों में इसी प्रकार के मूर्तिपूजक हुए हैं—और यही उनका धर्म रहा है। वुद्धि विकास (Mental evolution) की इस प्रथम अवस्था को पारलौकिक शक्ति के विश्वास (State of supernatural belief) की अवस्था कहते हैं।

इसके पश्चात् वुद्धि विकास की दूसरी अवस्था आती है जिसे हम दार्शनिक (Metaphysical) अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में मनुष्य गूढ़ विचार करने लगता है और गूढ़ मनन के पश्चात् कल्पना द्वारा इस परिणाम पर पहुंचता है कि सव देवताओं और शक्तियों के परे भी एक शक्ति होती है जिसे ईश्वर कहते हैं। फिर वह आत्मा और परमात्मा के सिद्धान्त का निर्णय करता है। मनुष्य के ये निर्णय किसी वैज्ञानिक सत्य (Scientific truth) पर निर्भर नहीं, इसलिये इन सिद्धान्तों के कई रूप हुए। कोई ईश्वर को कर्ता और कोई अकर्ता, कोई उसका अस्तित्व और कोई उसकी शून्यता मानने लगा। यदि ये वातें वैज्ञानिक सत्य पर निर्भर होती तो एक सिद्धान्त के अतिरिक्त दूसरा सिद्धान्त नहीं हो पाता। खैर ! जव इन दार्शनिक सिद्धान्तों को धर्म का संगठित रूप दिया गया और उसको वाह्य जीवन में घटाया गया तभी से यह वात भी प्रत्यक्ष होने लगी कि मनुष्य की वुद्धि इतनी विकसित हो जायेगी कि वह धर्म के इन सव वाह्य रूपों का नाश कर देगी। उन सिद्धान्तों को व्यवहार में घटाने के लिए और उनको लोक

धर्म बनाने के लिए बहुत सी ऐसी कल्पनात्मक बातें जिनका आज हम अनुमान भी नहीं कर सकते हमारा सत्य धर्म बन गईं। समाज और राज्य संगठन को भी धर्म और ईश्वर कृत कार्य का रूप दे दिया गया। मनुष्य का जन्म से लेकर मृत्यु तक का जीवन धर्म से मढ़ गया। उस समय ऐसा होना आवश्यक भी था, क्योंकि विकास की जिस अवस्था तक बुद्धि पहुंची थी, उसको उसकी अगली अवस्था तक पहुंचने के लिए ऐसा करना अनिवार्य था।

बुद्धि विकास (Mental evolution) की तीसरी अवस्था पदार्थ-सत्य की अवस्था (Stage of Positive truth) कहलाती है। इसके अनुसार मनुष्य प्रत्येक बात को वैज्ञानिक सत्य (Scientific Truth) की कसौटी पर कसता हुआ इस निर्णय पर पहुंचता है कि मनुष्य और वह संसार जिसमें मनुष्य रहता है, दोनों सत्य हैं, मिथ्या नहीं। और इस संसार में, मनुष्य और मनुष्य कृत समाज की उन्नति और सुख इसी संसार के पदार्थ सत्य पर निर्भर हैं, किसी दार्शनिक (Metaphysical) सत्य, या उसके रुढ़ धार्मिकरूप पर नहीं।

ऐतिहासिक दृष्टि से सोलहवीं शताब्दी में इस बुद्धि के विकास का निरूपण पाश्चात्य देशों में सबसे पहिले लोर्ड बेकन (Lord Bacon) द्वारा हुआ। १६ वीं शताब्दी तक वहाँ मनुष्य के सब कार्य और व्यवहार धर्म से ढ़के हुए थे, गिर्जे (Church) की सत्ता सब पर थी। परन्तु बुद्धि का विकास होने पर उनको यह प्रतीत होने लगा कि धार्मिक विश्वास का मनुष्य के बाह्य जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है—बाह्य जीवन तो पदार्थ या वैज्ञानिक सत्य पर ही निर्भर रहता है। तभी से गिरजे (Church) और राज्य (State) का पृथक्करण हुआ। धर्म को पदार्थिक व्यवहार से अलग कर दिया गया। धर्म का क्षेत्र और भी संकुचित होगया—अब वह मनुष्य के केवल अन्तर मानस में ही सीमित होने जा रहा है। ऐसा होते ही मानव में एक नई स्फूर्ति आई। वह अपने को स्वतंत्र समझने लगा और हृदय से पदार्थ सत्य के अन्वेषण में लग गया और इस परिणाम पर पहुंचा कि यह जीवन एक सौन्दर्यमय वस्तु है।

जो वुद्धि के विकास की इस तृतीय अवस्था तक नही पहुंच सका वह इस मौलिक अन्तर को नहीं समझ सका कि मनुष्य का धर्म उसकी आन्तरिक प्रेरणा और आन्तरिक अनुभूति पर निर्भर होना चाहिये और उसका वाह्य, लौकिक व्यवहार इस संसार के पदार्थ और समाज-विज्ञान के सत्य पर।

हमारे रूढ़ धार्मिक विश्वासों का (जो कि हमारे अन्तर में ही सीमित रहने चाहियें थे) हम पर यह गहरा प्रभाव पड़ा कि समाज का जिस तरह भी संगठन हुआ वह एक ईश्वरीय कार्य समझा गया और सर्वदा के लिए सत्य माना जाने लगा, चाहे उस समाज, संगठन और राज्य सत्ता से हमें कितना ही दुःख क्यों न हुआ हो। उसकी तरफ अंगुली उठा कर यह कहना कि यह तो ठीक नहीं, इस वात का द्योतक समझा जाने लगा कि अंगुली ईश्वर के विरुद्ध उठाई जा रही है, यह तो ईश्वर के कर्तृत्व में अविश्वास प्रकट किया जा रहा है। इस विश्वास ने हमें संसार से उदासीन वना दिया, जिसका परिणाम प्रत्यक्ष है—करोड़ करोड़ जनों की कंगाली, भूख, पीड़ा, अशिक्षा, पशुवत् जीवन।

इसीलिये अव दार्शनिक युग के उस धार्मिक विश्वास को, जो मनुष्य को 'मोक्ष या ईश्वर' प्राप्त कराने की चेष्टा करता था, लौकिक व्यवहार में लाने की या लौकिक धर्म वनाने की कोई आवश्यकता नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि जो मनुष्य उन धार्मिक या दार्शनिक सिद्धान्तों को पढ़ना या मनन करना चाहें, ऐसा न करें।

जिस संसार में हम रहते हैं उस संसार में पदार्थ सत्य (वैज्ञानिक सत्य) सर्वोच्च है। उसको कोई नहीं वदल सकता। वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक परीक्षा की ही यह खोज है कि मनुष्य जीवन का ध्येय अपने ही व्यक्तित्व को प्राप्त कर लेना है—(The highest development of one's personality) एक मनुष्य में जिस किसी भी विशेष कार्य की विशेप रुचि है, वह मनुष्य उस विशेप कार्य और विशेप रुचि को उच्चतम उन्नतावस्था पर पहुंचा दे—वस वहां उसने अपना व्यक्तित्व प्राप्त कर लिया। टैगोर कविता लिखने में विशेप रुचि रखते थ, जैसे ही वे इस कला की पूर्णता को पहुंचे उन्हें सन्तोष हुआ और

आनन्द मिला। उदयशंकर नृत्य में समरसता प्राप्त करता है; उनका इसी में अपना व्यक्तित्व प्राप्त कर लेना है; चैटर्जी में तैरने की विशेष रुचि है—जब अधिक समय तक तैरने का संसार का रेकार्ड तोड़कर वह तैर रहा था तो उसे सच्ची उमंग और सच्चे आनन्द का अनुभव हो रहा था।

मेरे लिये वह दिन सौभाग्य का था जब कि मैं धर्म के प्रचलित मोक्ष और ईश्वर प्राप्ति के विश्वास से हट कर इस विश्वास पर पहुंचा था—कि यह संसार जिसमें मैं रहता हूं सत्य है, और मैं जो काम करता हूं, विचार करता हूं, और जीवित हूं यह भी सत्य है,—तभी से हृदय में एक उमंग है और यही महत्त्वाकांक्षा है कि यदि मृत्यु के पश्चात् जन्म होता है तो मैं जन्म मरण के वन्धन से कभी भी मुक्त न बनूं। मैं संसार के नीले आकाश के नीचे क्रीड़ा करूं, सुन्दर सुवासित पुष्पों के साथ हँसूं, उषा काल की मधुर लालिमा में प्रसन्नता प्राप्त करूं, घनघोर बादलों की गरजन में मस्त बन झूमूं, मनुष्य के प्रेम पयोधि में अवगाहन करूं।

इतना होने पर भी यदि किसी मनुष्य में एक सच्ची आंतरिक प्रेरणा होती है और उससे प्रेरित होकर वह उधर दौड़ता है जहां उसे उसका 'प्रेमी' या "ईश्वर" मिलने वाला है—तो उसे अपने पथ पर दौड़ने दो, यही उसका सच्चा धर्म है। इसका वाह्य संसार से कोई सम्बन्ध नहीं।

इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य फिर अपनी ही स्वतन्त्र आंतरिक प्रेरणा से अपनी "आराध्य देवी" या अपने "इष्ट देव" की मूर्ति स्थापित कर उसकी पूजा करना चाहता है तो उसे करने दो। आर्य या इस्लाम धर्म को उस स्थान पर बाधा उपस्थित करने की कोई आवश्यकता नहीं। इटली का सबसे बड़ा कवि दांते (Dante) बीआट्रिस (Beatric) नामक युवती की सुन्दरता से प्रेरित होकर, हृदय में उसकी मूर्ति स्थापित करके ही अपना महान ग्रन्थ डिवाइना कोमेड्या (Divina Comedia) संसार के आनन्द के लिए प्रस्तुत कर सका था। लेओनार्डो डा विंची (Leonardo da Vinci)

"मोनालीसा" (Mona lisa) के चित्र को वना कर ही सत्य और सुन्दरता की पूजा कर सका था।

सत्य के इस रूप के आगे धर्म का कोई वाह्य रूप नहीं टिकता। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई धर्मों के सभी वाह्य रूपों का अस्तित्व मिट जाता है—कोई धर्म नहीं वचता। यदि कुछ शेप रह जाता है तो वह मनुष्य की एक आंतरिक प्रेरणा, एक भावात्मक संसार, एक परम आनन्ददायिनी भावना। उसी भावात्मक आनन्द में उसका धर्म निवास करता है। यह आन्तरिक भावात्मक अनुभूति हिन्दू, मुसलिम, ईसाई, वौद्ध, जैन इत्यादि धर्मों का परिणाम नहीं—यह तो उस मनुष्य की स्वतः कोई आंतरिक प्रेरणा है—उसके हृदय की कविता है—यही उसका धर्म है। और इस धर्म का वाह्य संसार से क्या प्रयोजन? वहां तो वह अपना व्यवहार पदार्थ सत्य पर ही निर्भर करेगा।

जीवन का उद्देश्य

जीवन का उद्देश्य जानने के लिए मैं चला हूँ। अनेकों को मेरी यह धृष्टता मात्र प्रतीत होगी कि इस वात को मैं फिर से छेड़ूँ जवकि भारतीय प्राचीन ऋपि एवं संसार के अन्य महान धर्म प्रवर्त्तक मनुष्य-जाति का ध्येय हमेशा के लिए निश्चित कर गये हैं। किन्तु वात यह है कि आधुनिक पदार्थ-विज्ञान जिसका मूल आधार प्रत्यक्ष प्रयोगात्मक वातें होती हैं—मनुष्य और सृष्टि सम्वन्धी अलौकिक, आध्यात्मिक एवं पौराणिक मान्यताओं की जड़ों को हिलाता हुआ, उन्हें तथ्यहीन प्रमाणित करता जा रहा है, इसीलिए मैं पुरानी ताल पर पैर उठाने की वुद्धिमानी में शंका करने लगा हूँ—विशेपकर उस वक्त जवकि मैं देखता हूँ कि पुरानी ताल पर पैर उठाने का परिणाम हुआ है हमारा पाखंड पूर्ण जीवन और नई परिस्थितियों और वदलते हुए सृष्टि

व्यापारों (Phenomena) का अपने जीवन के साथ सहज सामंजस्य स्थापित करने में हमारी अयोग्यता और असमर्थता ।

पूर्वजों ने मनुष्य जीवन का जो ध्येय स्थिर किया है उसकी अब हम आधुनिक ज्ञान विज्ञान के प्रकाश में परीक्षा करेंगे—देखेंगे कि वह ठीक ठहरता है या नहीं । साथ ही साथ प्राचीनों के द्वारा बनाये गये इस सृष्टि अथवा विश्व के ध्येय की भी परीक्षा करेंगे । सैमेटिक धर्मों (ईसाई मुसलिम) के धर्म-शास्त्रों में सृष्टि, मनुष्य और उसके जीवन का ध्येय इत्यादि, विषयक निम्न बातें बतलाई गई हैं । ईश्वर, (गॉड, खुदा) ने इस सृष्टि की रचना की । कैसे रचना की ? ईश्वर ने कहा सृष्टि हो, और सृष्टि हो गई । ईश्वर ने इस सृष्टि की रचना क्यों की ? स्वयं अपनी (ईश्वर की) शक्तियों और गुणों की अभिव्यक्ति के लिए । —बेशक एक अहंभावी ईश्वर होगा । और इस सृष्टि में मनुष्य के जीव का क्या ध्येय ठहराया गया ? यही कि मनुष्य अपना जीवन ईमानदारी और धार्मिकता से व्यतीत करे, जिससे कि मृत्यु के उपरान्त क़यामत के दिन से वह स्थायी स्वर्ग (बहिश्त) का उपभोग करे, और नरक के दुःखों से बच निकले । ठीक, यदि मनुष्य की ऐसी ईमानदारी और उसकी ऐसी धार्मिकता नये तथ्यों और नई सच्चाईयों को जो कि दिन प्रतिदिन प्रकाशित होती रहती हैं ग्रहण करने में कोई भी बाधा नहीं डालती है तो उसकी ईमानदारी और धार्मिकता के प्रति कुछ नहीं कहना है—उसका जीवन का ध्येय ठीक है । किन्तु बात इतनी सीधी नहीं है । आधुनिक प्रयोगात्मक पदार्थ-विज्ञान के द्वारा जांच की बात तो दूर रही, उपर्युक्त सृष्टि रचना, स्वर्ग और नरक की कहानी की सच्चाई तो साधारण व्यावहारिक ज्ञान और बुद्धि की परीक्षा के सामने भी नहीं ठहरती । विज्ञान और बौद्धिक तर्क की प्रतिदिन की प्रगति की टक्कर में पाप और पुण्य का यह ईश्वरीय विधान और सृष्टि विषयक पौराणिक विचारों का यह किला ध्वस्त होता जारहा है और सचमुच पाश्चात्य देशों में बहुत कम ऐसे ईसाई मिलेंगे जो सृष्टि रचना, और स्वर्ग और नरक सम्बन्धी पौराणिक विचारों में अब भी विश्वास रखते हों । इसीलिये यदि चाहते हो तो ईमानदारी और धार्मिकता

को अपने जीवन का ध्येय बनाये रक्खो, किन्तु एक बात का ध्यान रहे कि कहीं यह ईमानदारी और धार्मिकता विज्ञान द्वारा उद्घाटित प्रकाश को एवं तद्जनित आनंदानुभूति को जो कि विज्ञान के प्रकाश में जीवन और सृष्टि के किसी रहस्योद्घाटन द्वारा होती है, दूर रखने के लिए बहाना मात्र नहीं हो जाए। एक बात और है। क्या आप सचमुच ही जीवन के इस लक्ष्य से संतुष्ट हैं कि ईमानदारी और धार्मिकता से रहा जाय। बात तो सुन्दर जचती है, किन्तु क्या स्वर्ग का लालच और नरक का डर सचमुच ही आपको धार्मिक सद्व्यवहार की ओर प्रेरित करता है, और क्या आप सचमुच ही इस बात में विश्वास करते हैं कि स्वर्ग के लालच और नरक के भय ने मनुष्य को सद्व्यवहार की ओर प्रेरित किया है, और करेगा? जरा हृदय टटोल कर देखिये, क्या आप अपने प्रति सच्चे हैं? क्या इतिहास इसका साक्षी है?

अब हिन्दू दर्शन एवं धर्म की ओर ध्यान दिया जाय और देखा जाय कि वे विश्व और मनुष्य जीवन के प्रयोजन अथवा ध्येय के विषय में क्या कहते हैं। हिन्दू दर्शन का प्रतिनिधित्व शंकर का वेदान्त ही करता है। शंकर का वेदान्त ही अधिक प्रचलित और लोकप्रिय है। शंकर के वेदान्त में तो ऐसी कोई बात दृष्टिगोचर नहीं होती जिससे इस सृष्टि अथवा विश्व का कोई प्रयोजन अथवा ध्येय सिद्ध होता हो। शंकर के वेदान्त दर्शनानुसार इस अखिल सृष्टि में केवल एक ब्रह्म ही व्याप्त है।—और कुछ भी नहीं है। और यह सब संसार केवल माया, स्वप्न मात्र है। 'ब्रह्म-स्वरूप' इस सृष्टि का कोई प्रयोजन अथवा ध्येय नहीं हो सकता था, क्योंकि ब्रह्म-स्वरूप सृष्टि के साथ किसी प्रयोजन अथवा ध्येय के संयोग करने का अर्थ है—स्वयं ब्रह्म की सत्ता को न मानना; ब्रह्म निर्विकल्प, निर्विकार जो ठहरा। ब्रह्म का यह गुण ही नहीं है कि किसी प्रयोजन, ध्येय (किसी भी प्रकार के विचार अथवा गुण) के साथ उसका संयोग किया जाये। अब थोड़ी देर के लिए इस ब्रह्म का विचार भुलाकर इस दृष्ट संसार की ओर देखा जाय तब भी पायेंगे कि शंकर के वेदान्त दर्शन के अनुसार इस दृष्ट संसार का भी कोई प्रयोजन अथवा ध्येय नहीं है। माया (स्वप्नमात्रता) का

क्या प्रयोजन अथवा ध्येय हो सकता था ? तो ब्रह्म अथवा दृष्ट संसार सभी प्रयोजन रहित, ध्येय रहित। अब देखा जाय कि शंकर वेदान्त (अद्वैत-वाद) के अनुसार मनुष्य जीवन का क्या ध्येय है। जैसा ऊपर कहा गया है, वेदान्त-मतानुसार सब जगत ब्रह्ममय है,—और यह दृष्ट संसार माया। दृष्ट संसार में जीव (?) है किन्तु माया-युक्त, माया से परिवेष्टित। जीव माया मुक्त होकर ब्रह्म में अपना ऐक्य, अपनी अभिन्नता ढूंढ निकाले। यही जीव का (मनुष्यरूप जीव का) ध्येय है। ब्रह्म और जीव एक हैं अभिन्न है, माया-बल से पृथक भान होते हैं। मनुष्य जीवन की सफलता और उसका चरम लक्ष्य यही है कि वह ब्रह्म में अपनी अभिन्नता अनुभूत करले। जीवन का यह ध्येय कहां तक उपयुक्त है—इसी की परीक्षा पहिले हम साधारण सहज ज्ञान से करेंगे, तदन्तर विज्ञान और दर्शन की कसौटी पर।

क्या आप यह समझ कर इस संसार में पदार्पण करेंगे कि यह स्थूल संसार और इसकी वस्तुयें सब भ्रममात्र हैं ? मैं आम खा रहा हूँ, और दूध पी रहा हूँ, उस वक्त मेरे पास आकर यदि आप कहने लगें कि यह आम भी भ्रम है, यह दूध भी भ्रम है, तो आप की बात पर सिवाय खिलाखिलाकर हंसने के मैं और क्या कर सकता हूँ ? प्रत्येक स्वस्थ-प्राणी जिसका हाजमा अच्छा है, ऐसा ही करेगा। जब तक आप इस संसार में रहते हैं, तब तक आप इस संसार के स्थूल सत्यों और स्थूल पदार्थों से अपना पीछा नहीं छुड़वा सकते। और तिस पर आप कहते हैं कि इस दृश्य संसार से हमें क्या, हमारा ध्येय तो हमारी आत्मा और ब्रह्म की अभिन्नता ढूंढना है। आप अपनी आत्मा, और ब्रह्म के साथ उसकी एकता को कैसे पहिचानेंगे ? त्याग (Renunciation) सन्यास, ज्ञान और ध्यान से। ठीक, किन्तु क्या आप सचमुच ही ऐसा कर रहे हैं ? एक बात याद रखिये—"यदि आपका कोई ध्येय है किन्तु उसे प्राप्त नहीं कर सकते, तो क़दाचित् वह ध्येय नहीं है।" जरा बताइये इन हजारों वर्षों में, असंख्यों प्राणियों में से कितनों ने अपनी आत्मा को और उस आत्मा की ब्रह्म के साथ अभिन्नता को पहिचाना है ? आप यह असम्भव सी बात त्याग

(Renunciation) द्वारा करने जा रहे हैं। कितने अपने हृदय की भावनाओं का, अपने हृदय के प्रेम और घृणा, सहानुभूति और द्वेष का त्याग कर रहे हैं ? क्या हृदय को मारकर हृदय की सहज स्वाभाविक वृत्तियों का त्याग अनैसर्गिक, अप्राकृतिक नहीं ? क्या यह सफल होगा ? आप ज्ञान द्वारा अभिन्नता ढूंढने जा रहे हैं। किन्तु ज्ञान किस का ? किस पदार्थ अथवा वस्तु अथवा तथ्य का ? इस दृष्ट संसार और प्रकृति का ज्ञान तो वेशक नहीं, क्योंकि यह सब तो भ्रम-माया है। तो अपनी आत्मा का ? इसका ज्ञान कैसे प्राप्त करेंगे ? आत्मा, और मैं कहूं अनिर्दिष्ट—(the undefinable) के मनन और ध्यान द्वारा। ऐसी वस्तु (being) का मनन और ध्यान करके आप समझते हैं कि आप भ्रम-माया अथवा असत्य (illusion) से हटकर सत्य (reality) की ओर जा रहे हैं, किन्तु जरा ठहर कर देखिये, कहीं आप सत (reality) को छोड़कर तो असत् (non-existent) की ओर नहीं जा रहे हैं ? दृष्ट संसार से और उस दृष्ट संसार के जीवन से अपने आप को मोड़ कर, अपने ही अन्तर-प्राणी में अपने आपको निहित (संकुचित) कर दरअसल आप सत् और वास्तविक जीवन से ही अपने आपको हटा रहे हैं, और कल्याण-स्वरुप, और द्वन्द्व रहित दिखने वाले अज्ञान-रुप अंध कूप में आप डूब रहे हैं। यदि जीवन के रहस्य का तुम उद्घाटन कर सकते हो तो जीवन में ही गोता खा कर, उससे दूर हटकर अथवा मुड़कर नहीं। ज्ञान प्राप्ति का प्रत्यक्ष सही रास्ता एक ही है—इन्द्रियों या इन्द्रियों के सहायक सूक्ष्म यंत्रों द्वारा पदार्थों की प्रत्यक्ष अनुभवगम्यता। सृष्टि के ज्ञान का सही रास्ता, जगत व्यवहार में निर्भर-योग्य रास्ता, न तो शून्य मनन में है और न अन्तरदृष्टि (intuition) में, जिसका जन्म सदैव किसी न किसी संस्कार अथवा अवचेतन मन की प्रच्छन्न रागवृत्ति के फलस्वरुप ही होता है। यहां तक तो ब्रह्म और आत्मा के प्रश्न पर विचार हुआ साधारण सहज ज्ञान द्वारा। अब हम इस प्रश्न को दर्शन (विज्ञान) की कसौटी पर कस कर देखेंगे। श्री शंकर अद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं

है—केवल एक ब्रह्म ही सर्वत्र-व्याप्त है। यह ब्रह्म निर्गुण, निर्विकार निर्विकल्प है—एक अकेला है। यदि केवल एक निर्गुण निर्विकार ब्रह्म की ही सत्ता है, तो इस प्रत्यक्ष मूर्त, विकार और गुण सहित दृश्य संसार के अस्तित्व को आप कैसे समझायेंगे ? या तो विकार-सहित यह दृश्य संसार ब्रह्म से पृथक कोई अन्य वस्तु है—या ब्रह्म ही सविकल्प और सविकार है। ये दोनों बातें शंकर के प्रतिकूल पड़ती हैं। किन्तु नहीं—श्री शंकर अपने अद्वैतवाद को सफा बचा ले जाते हैं यह कह कर कि इस दृश्य संसार का तो कोई अस्तित्व ही नहीं है। यह सकल दृश्य संसार, दृश्य सृष्टि केवल एक माया है—एक भुलावा, एक स्वप्न है। अपने निर्विकल्प ब्रह्म की सत्ता स्थापित करने के लिये श्री शंकर को यह स्वयं-सिद्ध सृष्टि, सगुण भावमय दृश्य सृष्टि, झूठी, स्वप्नमात्र और अस्तित्वहीन घोषित करनी पड़ी। इस दृश्य संसार को यदि माया भी मान लिया जाए तो प्रश्न यह है कि यह माया (जिसकी दृश्यता को कम से कम कोई इन्कार नहीं कर सकता) आती कहां से है ? शंकराचार्य उत्तर देते हैं कि यह माया अविद्या नाम की शक्ति द्वारा ब्रह्म से प्रकट होती है। यह अविद्या ही इस दृश्यमान संसार का हेतु है। इस प्रकार माया को एक शक्ति मानकर ब्रह्म के साथ जोड़ा गया है। ज्योंही हम ब्रह्म के साथ शक्ति, अविद्या का मेल करते हैं, त्योंही ब्रह्म के विषय में हमारा यह विचार कि ब्रह्म निर्विकल्प और निर्विकार है, नहीं ठहरता। अतः या तो ब्रह्म को विकारमय मानो, या मानो कि वह माया जो कि इस दृश्यमान संसार का हेतु है ब्रह्म से सर्वथा एक अलग चीज है। ऐसा मानने से भी अद्वैतवाद नहीं ठहरता। और शंकराचार्य इसीलिये बुद्धि और वैज्ञानिकता का सहारा छोड़कर प्राचीन वेद-शास्त्रों का सहारा लेता है, और उनकी सत्ता को मानकर यह घोषित करता है कि दार्शनिकों का निर्विकल्प ब्रह्म भगवान होजाता है, और इस दृश्यमान संसार को प्रकट करने के लिए काल्पनिक सम्बन्ध बनाये रखता है। इसलिये यदि हम अपने विचारों का आधार धर्मशास्त्रों को न मानकर वैज्ञानिक और बौद्धिकतत्त्व-ज्ञान को मानें तो उपर्युक्त बहस से यह स्पष्ट होता है कि या तो शंकर का निर्विकल्प ब्रह्म केवल

कल्पना की एक कृति है, और या उसका यह सिद्धान्त कि यह दृश्यमान सृष्टि केवल स्वप्नमात्र है बिलकुल ग़लत और निरर्थक है। स्पष्ट रूप से कहें तो दो बातें साफ जाहिर हैं। (१) अगर ब्रह्म के विषय में यह विचार सच मानें कि ब्रह्म एक निर्विकल्प निर्विकार सत्ता है तो यह विचार कि यह दृश्यमान सृष्टि केवल भुलावामात्र है ग़लत साबित होता है। अर्थात् दृश्यमान जगत का हेतु एवं आधार निश्चय रूप से ब्रह्म नहीं है। इस दृश्यमान जगत का आधार और हेतु कोई दूसरी वस्तु ही है। आपके जीवन का ध्येय है ब्रह्म से ऐक्य-स्थापित करना; ब्रह्म से आप अपना ऐक्य तभी ढढूं निकाल सकते हैं, या ब्रह्म के साथ अपनी अभिन्नता आप तभी स्थापित कर सकते हैं जब आप केवल ब्रह्म हों। किन्तु अपने शरीर, मन, बुद्धि और इच्छाओं को लिए हुए तो आप इस दृश्यमान-जगत के भी एक अंग हैं। इसलिये जब यह दृश्यमान जगत ब्रह्म से सर्वथा भिन्न है (जैसाकि अभी ऊपर दिखा आये हैं) तो आप ब्रह्म के साथ अपना ऐक्य कैसे ढूंढ निकाल सकते हैं ? (२) अगर इस दृश्यमान जगत के विषय में हम इस विचार को सही मानलें कि यह दृश्यमान सृष्टि माया है, जो कि ब्रह्म की अविद्या **नाम** की शक्ति का फल है तो हम इस विचार को सत्य नहीं मान सकते कि ब्रह्म सचमुच ही एक निर्विकल्प निर्विकार सत्ता है। ऐसे ब्रह्म का विचार केवल काल्पनिक है, वस्तुस्थिति से दूर, दिमाग से गढा हुआ, या अधिक से अधिक ऐसी परंपरा में पली हुई संस्कृत, प्रच्छन्न रागवृत्ति की प्रेरणा से देखा हुआ। ऐसी स्थिति होते हुए भी यदि आपके जीवन का ध्येय ब्रह्म के साथ अपनी अभिन्नता स्थापित करना है तो क्या आप सचमुच ही एक अस्तित्वहीन कोरी काल्पनिक वस्तु को पकड़ने का निष्फल प्रयत्न नहीं कर रहे हैं ?

मनुष्य के जीवन के ध्येय के विषय में और भी कई बातें कही जाती हैं। कोई कहते हैं मनुष्य जीवन का ध्येय ईश्वर प्राप्ति है, कोई कहते हैं मनुष्य जीवन का ध्येय मोक्ष प्राप्ति है। इन बातों का आखिर अर्थ क्या ? ईश्वर प्राप्ति का क्या यह अर्थ है कि कोई ईश्वर (भगवान) है जो दो पैरों पर चलता हुआ या गरुड़ पर सवारी किया हुआ आपके

पास आयेगा और आपको दर्शन देगा ? क्या ऐसा संभव हुआ है ? प्राचीन पौराणिक कथाएं जिनमें ईश्वर दर्शन की बातें आती हैं मात्र कवि कल्पना हैं जिनमें अन्तर की भावना को कल्पना द्वारा मूर्त रूप दे दिया गया है। यदि ईश्वर प्राप्ति का अर्थ ब्रह्म में मिल जाना है तो इस विषय पर विचार हो ही चुका है। यदि ईश्वर प्राप्ति एवं मोक्ष प्राप्ति अथवा वैकुण्ठ प्राप्ति आदि एक ही वस्तु हैं, तो इस प्रश्न पर अब विचार करते हैं।

वेदान्ती लोगों के मोक्ष का अर्थ है—ब्रह्म में एकात्म हो जाना, इस प्रश्न पर विचार हो ही चुका। किन्तु इसी से सम्बन्धित एक बात और है। पुनर्जन्म में विश्वास करने वालों के अनुसार इस संसार में मृत्यु का अर्थ है—शरीर का तो खतम हो जाना, किन्तु जीव-आत्मा का बचा रहना। सही अर्थों में तो इस संसार में मृत्यु का अर्थ अधूरी ही मृत्यु हुआ। जीव-आत्मा जो कि बची रहती है, वह भी यदि मोक्ष प्राप्त होने पर ब्रह्म में या और कहीं ग़ायब हो जाए तो आनन्द भोगने के लिए पीछे कौनसी वस्तु बचेगी ? ऐसे मोक्ष का तो अर्थ हुआ अधूरी मृत्यु नहीं किन्तु पूर्ण मृत्यु—जिसमें शरीर भी ग़ायब और जीव-आत्मा भी ग़ायब।

जैनी लोग मोक्ष के विषय में और ही कुछ मानते हैं। उनका विश्वास है कि सिद्ध द्वीप शिवपुरी में एक मुक्तिशिला है, उस पर अनादिकाल तक वास करने का अर्थ है मोक्ष। उनका विश्वास है कि उनके तीर्थांकरों जैसे कि पार्श्वनाथ, श्री महावीर आदि—जिन्होंने निर्वाण प्राप्त किया है—वे इसी मुक्ति—शिला पर बिलकुल चुपचाप शांति से बैठे हुए हैं और अनादिकाल तक बैठे रहेंगे। मुझे उनकी किस्मत पर तरस आता है। कल्पना कीजिए उन महावीर आदि की जो बिलकुल नंग धड़ंग, चुपचाप अकेले उस मुक्ति-शिला पर बैठे हुए हैं—न कुछ सोच रहे हैं न कुछ काम कर रहे हैं। वैष्णव-लोगों के मोक्ष का अर्थ है—वैकुण्ठ—प्राप्ति और वहां पर अपने प्रेमी विष्णु के साथ अनादि काल तक खाते पीते और मौज करते रहना। क्या यह मोक्ष इसी संसार के भौतिक सुखों से भिन्न है ? आर्यसमाजियों का मोक्ष

एक भिन्न ही वस्तु है। वे तीन चीजों के अनादित्व में विश्वास करते हैं--ईश्वर, प्रकृति, और जीव। मुक्तावस्था में जीव अपने अनेक भौतिक एवं शारीरिक गुणों से छुटकार पाता है—केवल उसका संकल्प-मात्र शरीर रहता है। किन्तु उस संकल्प-मात्र (सूक्ष्म) शरीर में भोगने की और विचार करने की शक्ति रहती है। ऐसा मुक्त जीव मोक्षावस्था में, अनन्त व्यापक ब्रह्म में स्वच्छंद घूमता है, वह जीव ब्रह्म में लीन नहीं हो जाता है, उससे पृथक रहता है और पृथक रहता हुआ मोक्ष का आनन्द भोगता है। लाखों वर्षों तक इस प्रकार आनन्द भोगता हुआ, इस संसार में वह फिर जन्म लेता है—और जन्म मरण का चक्र फिर चलने लगता है। मोक्ष के विषय में बहुत सी शंकाओं का समाधान करते हुए श्री दयानन्द की यह मोक्ष की कल्पना बहुत ही सोची समझी और सुरक्षित है।

मोक्ष के विषय में भिन्न भिन्न धर्मों के भिन्न भिन्न विचारों से, जब कि प्रत्येक धर्म अपने ही निरूपण को अखंड सत्य मानता है, एक बात तो कम से कम अवश्य जाहिर होती है, वह यह कि मोक्ष कोई एक वास्तविक वस्तु मालूम नहीं होती क्योंकि यदि वह सर्वथा वास्तविक-और सत्य होती तो इसके विषय में कोई एक ही मत होता, भिन्न भिन्न मत नहीं। और भी एक बात है—मोक्ष सम्बन्धी यह विचार किसी तात्विक अथवा बौद्धिक तर्क पर स्थित नहीं, असिद्ध को सिद्ध करने की केवल कल्पना से ढूंढी हुई ये बातें हैं, और केवल धर्म-शास्त्र के ही आधार पर स्थित हैं। अब देखना यह यह है कि ईश्वर और मोक्ष की ये धारणयें कहां तक विज्ञान और युक्ति संगत दर्शन की कसौटी पर ठीक ठहरती हैं। ब्रह्म, मुक्त, ईश्वर, मोक्ष आदि की धारणयें किसी न किसी रूप में आध्यात्मिक हैं। तो अब हम आध्यात्मिक दर्शन और आध्यात्मिकता के अनुसार ब्रह्मांड का जो आधारभूत स्वरूप माना गया है उसकी परीक्षा करेंगे। हम किसी लम्बी बहस में नहीं पड़ेंगे, उसके लिए यह उपयुक्त स्थान भी नहीं है, किन्तु हम केवल यह बतलायेंगे कि आध्यात्मिक दृष्टि-कोण क्या है और साथ ही साथ सिद्ध होने वाली आधुनिक ज्ञान विज्ञान की बातें भी प्रस्तुत करेंगे, और फिर अपना निर्णय बनायेंगे। आध्यात्मिक विचार-

धारा अथवा दृष्टिकोण का—चाहे वह प्राच्य हो चाहे पाश्चात्य—सबसे अधिक विकसित रूप है—आध्यात्मिक अद्वैतवाद (Spiritualistic Monism) इसके अनुसार ब्रह्मांड का आधार तत्त्व (the first principle) एक जड़-तत्त्व हीन (im-material) आत्म वस्तु (Spirit) अथवा ब्रह्म है (शंकर और बर्कले)। आध्यात्मिक अद्वैतवाद सर्वदेववाद (pantheism)—अर्थात् यह प्रकृति और इसकी सब वस्तुयें ही ईश्वर हैं—का ही सर्वोच्च विकसित रूप है; और सर्वदेववाद है भौतिकवाद का ही उल्टाकिया हुआ रूप, क्योंकि ज्यों ही (जैसा कि इस लेख में हम पहले समझा आये हैं) अध्यात्मिक अद्वैतवाद इस दृश्य संसार को केवल एक भाव अथवा स्वप्न (idea or hallu cination) सिद्ध करने का प्रयत्न करता है त्योंही इस दृष्ट सृष्टि के अस्तित्व को समझाने के लिए आत्मा (immaterial existence) की धारणा स्थिर नहीं रह पाती और उसकी जगह एक भौतिक तत्त्व ले लेता है; क्योंकि एक निर्विकल्प, निर्विशेष प्रत्यय या विचार सविकल्प दृष्ट प्रकृति कैसे हो सकता था ? अतः बुद्धिगम्य यही दिखता है कि आधार-भूत तत्त्व कोई भौतिक वस्तु है। आध्यात्मिक अद्वैतवाद भौतिक अद्वैतवाद बनजाता है। भौतिकवादियों की यह धारणा कि इस ब्रह्मांड, शरीर मन चेतनता आदि सबका आधारभूत तत्त्व एक भौतिक वस्तु है, और उनकी यह धारणा कि यह संसार अपने आप द्वारा ही विषय-प्रधान ढंग से (objectively) स्थित है, कोई बे-बुनियादी धारणा नहीं। आधुनिक वैज्ञानिक अन्वेषणों ने भौतिकवादियों के सिद्धान्त को परिपुष्ट किया है। स्वभावतः प्रश्न उठता है कि किस प्रकार एक भौतिक वस्तु (matter) विचार, भाव, आदि की क्रिया कर सकती है ? किस प्रकार भौतिक वस्तु (matter) मन अथवा बुद्धि (mind) का मूल-तत्त्व हो सकती है ? यह बात समझने के लिए शरीर-विज्ञान शास्त्रियों की पुस्तकें पढ़ने की जरूरत है। उन्होंने प्रयोगात्मक ढंग से यह सिद्ध कर दिखाया है कि मन अथवा बुद्धि (mind) मस्तिष्क (Brain) से कोई भिन्न वस्तु नहीं। और मस्तिष्क तो भौतिक तत्त्वों का एक विशेष प्रकार का सम्मिश्रण है—भौतिक शरीर का ही एक भाग है। प्राणी शरीर से पृथक किसी ऐसे

मन अथवा बुद्धि की कल्पना ही हम नहीं कर सकते जोकि स्वयं ही विचार, तर्क, भाव आदि की क्रियायें करता हो। मन अथवा बुद्धि की क्रियायें तो हमारे शरीर के ही मुख्य नाड़ी संस्थान के क्रियात्मक रूप हैं—"The ideas and actions of the understanding are the motional phenomena of the central nervous system.", कल्पना कीजिये—

भाव-विचार शून्य कोई एक पागल व्यक्ति है। उसके पागल पन, भाव-विचार शून्यता का एक मात्र सम्बन्ध उसके मस्तिष्क अथवा नाड़ी संस्थान से है जोकि भौतिक पदार्थ है। उसके मस्तिष्क अथवा नाड़ी-संस्थान में कोई चोट आई है अथवा उनमें कोई रोग उत्पन्न हुआ है, इसी की वजह से वह व्यक्ति भाव-विचार शून्य हो गया है। मस्तिष्क अथवा नाड़ी संस्थान की चोट अथवा रोग को ठीक कर दीजिए तो तुरंत ही उस पागल में भाव अथवा विचार की शक्ति लौट आएगी। इस-प्रकार भाव अथवा विचार भौतिक मस्तिष्क से कोई भिन्न वस्तु नहीं।

अब हम प्राण, जीवन (life) के प्रश्न पर आते हैं। प्राण किस प्रकार भौतिक वस्तु (matter) में से प्रकट हुआ? प्राण और जड़तत्त्व ये दोनों विचार एक साथ कैसे ठहर सकते हैं? विकासवाद (Evolution) का सिद्धान्त इस बात को समझाता है। बहुत ही अद्भुत रूप से मिश्रित (complex) यह जो मनुष्य-प्राणी (organism) है वह किसी एक वानर-सम जन्तु का विकसितरूप है। और यह वानर-सम जन्तु किसी अन्य ही साधारण सूक्ष्म जीव (simple organism) का विकसित रूप है। इस प्रकार अन्वेषण करते हुए, आगे बढ़ते हुए, हम किसी एक-कोषाणु वाले जीव तक पहुंचते हैं। और इससे भी आगे बढ कर हमें इससे भी अधिक साधारण चेतनता-युक्त जीव मिलते हैं जिन्हें हम बैकट्रियाफेज (Bacteriophage) कहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्य जैसा सर्व-विकसित मिश्रित प्राणी (complex organism) किसी साधारण एक-कोषीय जीव (simple organism) का ही विकसित रूप है। इस विकास में लाखों वर्ष लगे होंगे। अन्त में फिर भी प्रश्न रह ही जाता है कि

आखिर इस (Bacteriophage) अत्यन्त ही साधारण सूक्ष्म चेतनमय जन्तु में ही चेतनता कहां से आई। यद्यपि वैज्ञानिक अभी तक प्राण के मूल (origin of life) का ठीक ठीक पता नहीं लगा सके हैं, किन्तु तब भी उनके दिन प्रतिदिन के प्रयोग और अन्वेपण ऐन्द्रिक और जड़ वस्तुओं (organic and inorganic substances) के अन्तर को दूर कर रहे हैं। श्री जगदीशचन्द्र वसु के भी प्रयोगों ने ऐन्द्रिक और जड़-वस्तुओं के ऐक्य को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है और इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि धातु, वनस्पति एवं जीव-प्राणी आधार-भूत तत्त्व में एक ही हैं। कोई भी जीवित प्राणी (living organism) प्रकृति के विकास की उच्च सीमा तक पहुंचा हुआ केवल किन्हीं विशेष भौतिक-रासायनिक पदार्थों का एक मिश्रित रूप है—(highly complex organism of physico-chemical substances)। मनुष्य और उसके मस्तिष्क को द्रव्य अथवा जड़ पदार्थ में से विकसित होने में लाखों वर्ष लगे हैं, और प्रकृति में मनुष्य और उसके मस्तिष्क के आविर्भूत होने की जो यह घटना (phenomenon) है, उसको हम अभी हाल की, थोड़े ही अर्से की बात मान सकते हैं। मनुष्य और मस्तिष्क के आगमन के पहले तो द्रव्य (matter) लाखों करोड़ों वर्ष तक चेतनाहीन अवस्था में पड़ा हुआ था। किन्तु वह द्रव्य-पदार्थ गतिहीन नहीं था, गत्यात्मक था और अपनी ही गत्यात्मकता से उसमें स्वयं परिवर्तन और विकास हो रहा था। इस हिसाब से हम देख सकते हैं कि सृष्टि में पहिले भी कोई ज्ञानमय हेतु (intelligent purpose) नहीं था, और अब भी ऐसा कोई ज्ञानमय हेतु नहीं है। हाँ, इस संसार में मनुष्य प्रकृति को काबू में करके अपने ही चेतनयुक्त विचार (conscious thought) द्वारा किसी हेतु अथवा उद्देश्य का आरोप इस संसार पर कर सकता है। अभी हाल के इस आविष्कार द्वारा कि विद्युत अणु (electrons) एवं शक्ति-तरंग (Waves of Energy) ही सृष्टि में व्याप्त हैं, कोई यह न सोचने लगजाय कि यह शक्ति तरंग (wave energy) कोई अजड़ (immaterial) वस्तु अथवा कोई आध्यात्मिक घटना

(Spiritual phenomenon) है और वह इस प्रकार सोचता हुआ भौतिक अद्वैतवाद के विषय में ही कोई गलत धारणा न बनाले। अभी कल के वैज्ञानिक अन्वेषणों द्वारा यह निश्चित रूप से दिखला दिया गया है कि बिना द्रव्य की (वह द्रव्य -matter- चाहे कितना ही सूक्ष्म हो) सत्ता मानते हुए हम किसी शक्ति (energy) की कल्पना नहीं कर सकते। विद्युति कण (electric particles), शक्ति कण आखिर द्रैव्यिक पदार्थ (material entities) ही हैं। वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा यह दिखलाया गया है कि न केवल द्रव्य (matter) ही को हम शक्ति में परिवर्तित कर सकते हैं, किन्तु शक्ति को भी हम द्रव्य में परिवर्तित कर सकते हैं। इससे सृष्टि का फिर वही अद्वैतवादी ही दृष्टिकोण स्थापित होता है–जिसका आदि-कारण भौतिक पदार्थ है। यह भौतिक अद्वैतवाद किसी कल्पनात्मक विचारधारा एवं अंतर्वाणी (intuition) का अनुमान मात्र नहीं है। किन्तु यह तो विज्ञान द्वारा सिद्ध किया हुआ, एवं हमेशा सिद्ध किया जासकने वाला सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के प्रकाश में यदि ईमानदारी से कोई अपने दिमाग को पूर्व-संस्कारों से स्वतंत्र करके देखे तो वह देख पायेगा कि न तो पाश्चात्य एवं प्राच्य आध्यात्मिक अद्वैतवाद ही स्थिर रह पाता है न द्वैतवाद (ईश्वर और प्रकृति) और न दयानन्द का त्रिसत्तात्मक भाव (ईश्वर, जीव और प्रकृति)। इसी प्रकाश में हम देख पायेंगे कि ईश्वर प्राप्ति एवं मोक्ष प्राप्ति का भी कोई अर्थ नहीं निकलता। मोक्ष अथवा ईश्वर मानवीय कल्पना प्रसूत वस्तुऐं अथवा रूप दिखने लगते हैं। द्रव्य (matter) अथवा यह दृश्य संसार सत्य ठहरता है, और ईश्वर अथवा ब्रह्म केवल एक भुलावामात्र, माया। और यदि कोई गहन दृष्टि से देखने का प्रयत्न करे तो वह यह बात देख पायेगा कि वैदिक अथवा दयानंदी ईश्वर या ब्रह्म (परिभाषा —ईश्वर या ब्रह्म अति सूक्ष्म निराकार, अपने नियमों का पालन करने वाला सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान है) कुछ नहीं है––सिवाय एक शक्ति (energy) के, जो कि अपने ही नियमों से बंधी हुई है और अपने ही नियमों द्वारा परिचालित हो रही है। यही भौतिक अद्वैतवाद है

जिसमें, जैसा कि ऊपर दिखला आये हैं, शक्ति (energy) की सत्ता द्रव्य (matter) में है। और ऐसे ईश्वर को ढूंढने अथवा पता लगाने का अर्थ है—उन प्राकृतिक अथवा भौतिक नियमों का पता लगाना जो द्रव्य (प्रकृति) में ही सन्निहित हैं, और जिनके अनुसार सृष्टि अथवा प्रकृति का परिचालन हो रहा है। न्यूटन ने ऐसे नियम का पता लगाया था, डाल्टन ने दूसरे का और डार्विन ने एक और अन्य का, और इसी प्रकार अनेकों अन्य वैज्ञानिकों ने। इस प्रकार हम देखें तो मनुष्य के जीवन की महानकृति यही होगी कि वह ऐसे किसी और एक नियम का पता लगाले, जिससे सृष्टि चल रही है और या यह कि वह प्रकृति के एक और रहस्य का उद्घाटन कर दे। और इसी प्रकार सोचते हुए हम यह भी देख सकते हैं कि मनुष्य जीवन की मुक्ति और आनन्द इसमें नहीं कि वह संसार के बन्धनों को छोड़ता हुआ मोक्ष अथवा निर्वाण की प्राप्ति का साधन करे जोकि केवल एक भुलावा मात्र है, किन्तु यह मुक्ति और आनन्द इस बात में है कि वह अज्ञान, वहम (superstition) और अंध विश्वास के बन्धनों को तोड़ता हुआ अपनी बुद्धि को मुक्त करे और प्रतिदिन वर्धित-प्राय विज्ञान अथवा दर्शन के ज्ञान से अपने अन्तर को प्रकाशित करे। (विज्ञान और दर्शन वास्तव में भिन्न नहीं हैं)।

अब जब कि विज्ञान के दार्शनिक परिणामों ने जीवन एवं सृष्टि का प्राय: विशाल एवं पूर्णसा रूप सामने रक्खा है, जबकि विज्ञान के प्रायोगिक परिणामों ने मनुष्य के भौतिक वातावरण एवं परिस्थितियों को सुधारा है तो यह एक निरर्थक सी बात नहीं होगी यदि हम इसी विषय-प्रधान (objective) या वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रयोग मनुष्य को सामाजिक प्राणी की हैसियत से समझने में करें—उसको सुधारने के हेतु से। मनुष्य को इस रूप में देखते हुए हम परीक्षा करें कि मनुष्य के जीवन का हम कोई उद्देश्य स्थिर कर सकते हैं या नहीं। एक बार फिर यह बात दोहरा दी जाती है कि सृष्टि में अवश्यमेव कोई प्रयोजन सन्निहित नहीं है। इस सृष्टि में मनुष्य का आगमन तो एक अद्भुत सी घटना है और इस ब्रह्मांड के इतिहास में उसका

जीवन अभी निकट का ही है। इस मनुष्य जाति में जो कि प्रकृति में एक अद्भुत सी घटना है और जो कि अचेतन द्रव्य में से विकसित होती आ रही है जरूर ही कोई प्रयोजन अथवा उद्देश्य सन्निहित हो ऐसी बात नहीं, और यही बात हम एक व्यक्ति के जीवन के लिए भी कह सकते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि सभ्यता की स्थिति में भी मनुष्य अपने जीवन का कोई संतोषजनक उद्देश्य या प्रयोजन न ढूँढ सके। वह ढूंढ सकता हैं।—मनुष्य शेष प्रकृति से सर्वथा पृथक केवल अपने में ही स्थित कोई प्राणी नहीं है। अन्य सब जीव जातियों की तरह ही किसी प्रकार चलते रहने और अपने ही समान प्राणियों को पैदा करते रहने की उसकी प्रकृति है। उपयुक्त शिक्षा द्वारा मनुष्य में यह चेतनता कि उसे उन्नति करनी चाहिए उत्पन्न कर देने पर ही उसे ज्ञान-युक्त प्रगतिशील (consciously progressive) प्राणी बनाया जा सकता है। वे सब प्राणी जिनमें ऐसी ज्ञानमय चेतनता उत्पन्न नहीं हो गई है या नहीं कर दी गई है हमेशा शिथिल ही रहेंगे। बस किसी तरह से जिन्दा रहना और अपने ही समान प्राणियों को पैदा करते रहना यही उनका काम होगा। इसके आगे उनका ध्येय कुछ नहीं। व्यक्ति की ठीक उन्नति जिसमें ऐसी ज्ञानमय चेतनता जागृत कर दी गई है यही होगी कि वह अपने ही व्यक्तित्व के निर्माण करने के रास्ते में लग जाय। प्रत्येक स्त्री या पुरुष में कोई जन्म-जात विशेष गुण अथवा विशेष शक्तियां होती हैं जो कि सुषुप्त और अप्रस्फुटित रहती हैं। वह पुरुष या स्त्री इसी संसार और इसी जीवन में उस अप्रस्फुटित विशेष शक्ति अथवा गुण को पूर्णतया विकसित करे—यही व्यक्तित्व का निर्माण अथवा व्यक्तित्व की प्राप्ति (realisation of personality) हैं। जन्म-जात विशेष योग्यताओं, शक्तियों प्रवृत्तियों के विकास में, उनके पूर्ण एवं अबाध प्रयोग या अभिव्यक्ति में ही मनुष्य जीवन की सिद्धि और आनन्द है। कवि का आनन्द उसकी कविता में, कलाकार का उसकी कला में, वीर का उसके वीरता—पूर्ण कार्य में और ज्ञानी का सत्य के अवलोकन में। व्यक्तित्व के प्रस्फुटन में ही जीवन का आनन्द और उद्देश्य प्रकाशमान होता है। किन्तु समाज

से परे रह कर मनुष्य यह काम नहीं कर सकता। समाज को उसे सब साधन, सहूलियतें और स्वतंत्रता देनी चाहियें जिसमें वह अपनी संभावित शक्तियों (व्यक्तित्व) का पूर्णतया विकास कर सके। क्या आधुनिक समाज ऐसा संगठित है ? आधुनिक समाज में प्रायः हम सबके लिए जीवन का अर्थ है—रोटी कमाना, सूखी या चुपड़ी। जब तक मनुष्य के पास पर्याप्त अवकाश नहीं होगा, जब तक उसके जीवन की अधिकतर शक्ति और उसका समय रोटी और कपड़ा पाने के ही काम में व्यय होता रहेगा तब तक उसके जीवन का सिवाय इसके और क्या उद्देश्य हो सकता है कि रोटी कमाने के काम में पिसता रहे, बच्चे पैदा करता रहे, और एक दिन चुपचाप मर जाय।

मनुष्य के जीवन का ध्येय होना चाहिये—यह बात मैं ढूंढने चला था। मैं सोचता हूं कि मैं इसका पर्याप्त विवेचन कर चुका हूं, और मैं तो यही सोचने के लिये बाध्य हुआ हूं कि जीवन के वे सब उद्देश्य जिनका कि ध्येय ईश्वर अथवा मोक्ष प्राप्ति है (संक्षेप में, जो पारलौकिक हैं) केवल कल्पनात्मक एवं भ्रमोत्पादक हैं। साथ ही साथ विज्ञान एवं दर्शन (दर्शन जो कि विज्ञान पर निर्भर है) के आधुनिक उद्घाटनों के प्रकाश में एवं आज की परिस्थितियों में जीवन का इसी संसार में एक ठीक-ठीक (plausible) ध्येय निश्चित करने का प्रयत्न मैंने किया है। यथा अपनी अपनी प्रसुप्त योग्यताओं का पूर्णतम विकास—जो कि एक न्याययुक्त संगठित समाज में ही संभव हो सकता है—और यदि ऐसा संगठन नहीं है तो ऐसा संगठन प्रस्तुत करने में अपनी अपनी योग्यता के अनुसार सृष्टि कार्य में योग देना।

अब साधारणजन से दो व्यावहारिक बातें कहनी हैं। अपने जीवन का कोई ध्येय निश्चित करने के पहले तुम्हें इह-लौकिकता और पारलौकिकता के बीच में फैसला करना पड़ेगा और यह संभव हो सकता है कि जो कुछ भी मैंने पारलौकिकता के विरुद्ध कहा है उसके बावजूद भी पुराने संस्कारों और दिमागी गुलामी के सबब से आप पारलौकिकता के पक्ष में अपना मत स्थिर करें।

किन्तु यदि आप पारलौकिकता को ही अपना ध्येय वनाते हैं तो ऐसा करने से पहले यह भली भाँति देख लें कि पारलौकिक सुख और शांति के लिये परिश्रम करते हुए भी आपके मन में इसी संसार के सुख और वस्तुओं के प्रति जिन्हें आप आत्मा का वन्धन समझते हैं कहीं कोई इच्छा तो छिपी हुई नहीं पड़ी है। यदि ऐसी वात है तो निश्चित ही आप पाखंडी हैं। ज्योंही आपको महसूस हो कि इहलौकिक वस्तुओं के प्रति आपकी इच्छा है, चाहे उस इच्छा को आप कितना ही नापसन्द करते हों और वह कितनी ही अव्यक्त हो, तो पारलौकिकता के प्रति आपकी जितनी वहानेवाजियां हैं उनका त्याग कर दीजिए, वरना आप अपने को भी धोखा देगें और अपने ईश्वर को भी।

भारतीय जीवन की अत्यन्त खेदपूर्ण और अपमानजनक स्थिति यही है कि धार्मिक कहलाने वाले भारतीय हर वक्त आध्यात्मिकता का दावा करते हुए भी इसी संसार के धन-दौलत व आराम के लिए एक निकृष्ट इच्छा अपने मन में रखते हैं। यह वात इसी वास्तविकता की ओर संकेत करती है कि अपनी आध्यात्मिकता की घोषणा करते हुए भी वे इस संसार और जीवन की वस्तुओं के प्रति उतने ही आसक्त हैं जितने कि पाश्चात्य या (भौतिकवादी) कहे जाने वाले लोग। इस वात की अनुभूति करने के वजाय कि अपनी ही कमजोरी और अकर्मण्यता की वजह से उन्हें दरिद्री सरल जीवन से संतोष करना पड़ता है, वे अज्ञानता में अपने आपको धोखा देते हुए अपनी इस कमजोरी और अकर्मण्यता को आध्यात्मिकता और धार्मिकता के उच्च आदर्शों में छिपाने की कोशिश करते हैं।

यह सव कुछ कहने के वाद भी एक और वात रह जाती है। मैं एक सुन्दर कमल पुष्प नीले जल में से निकला हुआ देखता हूं। मेरी वुद्धि वहां एक अटूट-अटल प्राकृतिक नियम को काम करती हुई पाती है। कारण और परिणाम की एक अटूट शृंखला—वीज से पौधा, पौधे से कली, कली से पूर्ण प्रस्फुटित पुष्प, पुष्प से फल और फल से फिर वीज। इसी प्रकार यह नियमित चक्कर चलता रहता है। वह सुन्दर कमल वहां पर अपने आप में ही स्वतंत्र रूप से (objectively)

स्थित है, उसके प्रति मेरी किसी भी भावमय चेतना से अनजान और-अप्रभावित। उस पुष्प के विषय में एक सत्य तो यह हुई।

वही पानी में से झांकता हुआ सुन्दर कमल मेरे हृदय में प्रवेश करता है। हृदय का भारीपन जाता रहता है और वह आनन्द विभोर होजाता है। मैं एक ऐसे स्तर पर पहुंच जाता हूं, जहां मैं अपनी गरीबी और दुःख को भूल जाता हूं, जहां सिवाय आनन्द के कुछ नहीं। यह उसी पुष्प का दूसरी सत्य है। सत्य में नियम (Law) का रूप भी होता है, और आनन्द का रुप भी। सत्य में नियम और आनन्द दोनों सन्निहित हैं। बाहर प्रकृति का एक रूप होता है––भौतिक नियम। किन्तु हमारे हृदय में, हमारे भावात्मक संसार में उसका रूप होता है–– आनन्द। सूर कृष्ण-भक्ति और विरह के गेय पदों में संसार को भूल कर––आनन्दातिरेक में मग्न हुआ, मीरा भी गिरधर गोपाल के प्रेम में मस्त होकर–जहर का प्याला पी गई। किन्तु याद रहे कि यह एक भावात्मक अथवा काव्य-जगत का ही सत्य है। इस भावात्मक जगत के सत्य का आरोप यदि आप प्राकृतिक जगत और जीवन पर करने लगेंगे तो गड़बड़ी ही पैदा होगी। भावात्मक जगत में विचरते हुए यदि आप अपने दुःख और गरीबी को कुछ देर के भावात्मक क्षणों में भूल गये हैं तो इसका यह अर्थ कभी नहीं कि वह दुःख अथवा गरीबी आपके वास्तविक जीवन और जगत से भी लोप हो गई हो। जब व्यक्ति या समाज भावात्मक जगत के ही सत्य को वास्तविक जगत और जीवन का सत्य समझने लग जाता है तो वास्तविकता की उसे ऐसी थपेड़ लगती है कि वह ब्रह्म और भगवान की सब चौकड़ी भूल जाता है—

कला और साहित्य का प्रश्न

कला और साहित्य का प्रश्न भी आज एक विवाद का प्रश्न बना हुआ है। इसमें भी जीवन के अन्य क्षेत्रों की भांति आज मुख्यतया दो पक्ष खड़े हो गये हैं। इनका निर्देशन नीचे करेंगे।

अपने विषय को स्पष्ट करने के लिये सबसे पहिले तो यह बात समझ लें कि कला (चित्र), साहित्य, संगीत, नृत्य इत्यादि में मूलतः कोई भेद नहीं है। साहित्य जिस विचार, भाव या अनुभूति की अभिव्यक्ति सुचारु सहज शब्दों में है कला उसी की अभिव्यक्ति तूलिका एवं रंगों में है, संगीत उसी की अभिव्यक्ति नाद या स्वरों में है, एवं नृत्य उसी की अभिव्यक्ति लयमय गति में है। इस बात को ध्यान में रखते हुए हम कला और साहित्य के प्रश्न का विवेचन केवल साहित्य को ही दृष्टि में रखकर करेंगे।

मैं खयाल करता हूँ कि साहित्य के विषय में निम्न सामान्य तथ्य मानने में शायद किसी विरले को ही कठिनाई हो।

साहित्य हृदयगत (=आंतरिक) किसी गहनतर अनुभूत भाव की मार्मिक अभिव्यक्ति है। यह भाव वाह्य-लोक—प्रकृति, समाज, पदार्थ, दृश्य अथवा किसी घटना के अन्तर्लोक के सम्पर्क में आने से ही उद्भूत होता है। मानो साहित्य अन्तरात्मा की चीत्कार है—जो निकलती है उस क्षण में जब किसी हृदय पर जीवन के किसी दृश्य या घटना का प्रतिघात होता है—चाहे वह दृश्य या घटना एक पुष्प, झरझर झरना, हिमाच्छादित मेघ शृंखला हो, लोक जीवन को संतप्त करने वाला कोई प्राणी, सामाजिक रूढ़ि या विचार हों, बालक का प्यार या किसी की आंखें हों—इत्यादि।

उपर्युक्त बात का विश्लेषण करके देखें तो हम उसमें दो आधारभूत तथ्य पायेंगे।

(१) चेतन-अन्तर्लोक—हृदय
(२) वाह्य-लोक—प्रकृति, समाज
} इन दोनों के परस्पर घात प्रतिघात की अभिव्यक्ति साहित्य।

मुख्यतः इन दो आधारभूत तथ्यों को लेकर साहित्यलोक में दो विशेष पक्ष खड़े होगये हैं। एक पक्ष के पंडित लोग यह मानते हैं कि यदि हृदयगत चीत्कार सुन्दर संवेदनशील रूप में अभिव्यक्त होगई है तो साहित्य का उद्देश्य मानो फलीभूत हुआ। ये पंडित लोग कला या साहित्य को इससे पृथक या आगे कुछ नहीं मानते। इनके लिये आंतरिक प्रतिवेदना—चेतना की गहनता ही मुख्य है, अन्य सब कुछ तुच्छ। इन के लिये अन्तर्लोक—आंतरिक गहन से गहनतर चेतना का महत्व है, वाह्य लोक—प्रकृति और समाज का नहीं।

दूसरा पक्ष उन पंडितों का है जो यह कहते हैं कि कला या साहित्य फलीभूत नहीं हो सकता यदि वह आज तक प्राप्त बहुमुखी ज्ञान-विज्ञान, इतिहास-दर्शन को आत्मसात करता हुआ व्यक्ति और मानव समाज की गत्यात्मक विकास-प्रक्रिया का ज्ञान नहीं कराता एवं सामाजिक विकास के अगले चरण का दिग्दर्शन नहीं कराता। आज प्रत्येक उस व्यक्ति के लिये जो कला एवं साहित्य की ओर पदार्पण करता है उपरोक्त दो पक्षों की समस्या सामने आ खड़ी होती है। इसी का विवेचन हमें करना है।

सृष्टि विकास प्रक्रिया की ओर दृष्टि डालें तो आज के ज्ञान विज्ञान की स्थिति में हमें यह देखने को मिलता है कि पहिले यह समस्त प्रकृति निष्प्राण निश्चेतन स्थिति में थी। यह निष्प्राण निश्चेतन स्थिति में तो थी किन्तु वह गतिहीन नहीं थी। उसमें बराबर परिवर्तन हो रहे थे। एक समय आया जब कि सूर्य से पृथक होकर उसी का एक अंश पृथ्वी बनी—शनैः शनैः इस पर जल थल भाग, पर्वत, नदियाँ इत्यादि बने। तब तक इस पर किसी भी जीव की स्थिति नहीं थी। शनैः शनैः इस जड़ प्रकृति में प्राण का आगमन हुआ, स्पन्दन करते हुए प्रथम जीव का उद्भव हुआ। जिस प्राणमय जीव का आगमन हुआ वह विकासशील था,—वह एक कोष वाले जीव, जलचर अरीढ़धारी प्राणी, मत्स्य,

अर्धजलचर प्राणी, वराह, पशु, पक्षी, वानर इत्यादि की स्थितियों में से गुजरता हुआ विकास की उच्चतम अभिव्यक्ति मानव रूप में प्रकट हुआ। मानव अन्य जीवों की अपेक्षा अधिक चेतनायुक्त एवं स्वानुभूतिपूर्ण (self-conscious) था। मानो जीव के विकास की दिशा अधिक जागृत, गहनतर चेतना की ओर ही थी। शायद इसीलिये अन्य कोई जीव तो साहित्य और कला की उद्भावना नहीं कर पाया, मानव ने ही ऐसा किया। अतः साहित्य और कला केवल मानव का ही एक विशेष कर्म है। यदि मानव शेष पशु-सृष्टि की तरह केवल खाता पीता ही रहे, यौन-सम्बन्ध द्वारा अपनी जाति का केवल प्रसार करता रहे और अन्त में मर जाय तो वह शेष पशु-सृष्टि से भिन्न या उच्चतर कुछ नहीं। वही कर्म जो उसे शेष सृष्टि की अपेक्षा गहन से गहनतर और विशाल से विशालतर चेतना की अनुभूति करवाये,—वही तो मानव की विशेषता है। साहित्य और कला ऐसे ही कर्म हैं जो मानव को उसकी चेतना के साधारण स्तर से गहनतर, उच्चतर और विशालतर स्तर पर ले जाते हैं। किसी भी कला और साहित्य का साफल्य इसी में है, यहां तक की वही 'वस्तु' कला और साहित्य है जो मानव को गहनतर चेतनायुक्त स्थिति में अवतरित कर दें। इसका यह अर्थ भी हुआ कि साहित्य और कला का उद्गम स्वयं किसी गहनतर चेतनायुक्त स्तर से होता है। मानो किसी 'अति चेतन' क्षण या काल में किसी अभिनव अद्भुत 'वस्तु' की अनुभूति हुई हो और उसी की अभिव्यक्ति अनुभवकर्ता ने किसी विशेष रूप में की हो जिसके सम्पर्क में आने से सहृदय पाठक या दर्शक भी उस अतिचेतन स्थिति तक पहुंच जाता हो।

तो क्या साहित्य और कला एक पक्ष के उक्त पंडितों के अनुसार मात्र संवेदनात्मक आन्तरिक अभिव्यक्ति ही है? यह बात बिलकुल ठीक है किन्तु साथ ही साथ यह भी सत्य है कि कला या आन्तरिक प्रतिवेदना का कुछ आधार होता है। इस आधार के बिना प्रतिवेदना या कोई भी आन्तरिक अभिव्यक्ति सम्भव नहीं। चारों ओर की प्रकृति और चारों ओर का समाज और इतिहास (सामाजिक गतिशीलता) ही यह आधारभूमि है। प्रकृति का एक छोटा सा दृश्य, सामाजिक

जीवन की एक छोटी सी घटना भी कला का आधार हो सकती है, एवं समस्त प्राकृतिक सामाजिक एवं ऐतिहासिक प्रक्रिया भी यह आधार हो सकती है। कला एवं साहित्य में जीवन का, इतिहास की गति का जितना अधिकतर और सत्यतर अभिव्यंजन होगा, उतना ही ठोसतर कला का आधार होगा—यह आधार ठोस नहीं होने से तो कला द्वारा उत्पन्न तथाकथित सौंदर्य या आनन्द शराब के निकृष्ट नशे या प्रवंचना से भिन्नतर कुछ नहीं। अतः कला का आधार ठोस बनाने के लिये आवश्यक हो जाता है कि साहित्यकार युग की चेतना, विचार और भावनाओं को स्पष्ट समझता हुआ, उनको आत्मसात करता हुआ समाज और इतिहास की आवश्यक विकास दिशा का दिग्दर्शन कराये। वह ऐतिहासिक विकास-दिशा की ओर इंगित करे।

वस्तुतः झगड़ा तभी उठता है जब एक पक्ष का पंडित तो यह मान लेता है कि मनुष्य-चेतना की सत्ता सर्वथा स्वतन्त्र और निरपेक्ष है—वह प्रकृति और समाज पर बिलकुल भी आश्रित नहीं; और दूसरे पक्ष का पंडित यह मान लेता है कि प्रकृति और समाज में मानव-चेतना का महत्त्व नहीं, महत्त्व केवल पदार्थ, वस्तु, प्रकृति और सामाजिक-ऐतिहासिक शक्तियों का ही है।

ऊपर हमने अपने संसार के विकास का कुछ दिग्दर्शन किया है और वहां देखा है कि एक काल विशेष में निष्प्राण निश्चेतन प्रकृति में से ही प्राण और चेतना का विकास होता है। यहाँ वस्तु और चेतना का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध स्पष्ट है। यह बात सत्य है कि अनेक काल तक वस्तु और पदार्थ की सत्ता निश्चेतन स्थिति में बनी रही, अर्थात् चेतना से निरपेक्ष, किन्तु हम यह भी महसूस कर सकते हैं कि उस निष्प्राण निश्चेतन स्थिति का अस्तित्व अर्थहीन था—उसकी जानकारी ही किसे? उसका प्रयोजन ही क्या? वह थी—न थी। अब हम यह मान कर सकते हैं कि बिना चेतना के यह सृष्टि अर्थहीन होगी। चेतना जितनी गहनतर होगी उतनी ही अधिक अर्थयुक्त यह सृष्टि होगी। यह सत्य है। किन्तु क्या यह भी सत्य नहीं कि पदार्थ या वस्तु के आश्रय के बिना चेतना का अस्तित्व सम्भव नहीं। अभी तक उस सर्वथा

निरपेक्ष, स्वतंत्र 'चेतना' को देखना बाकी है जो शारीरिक आधार के विना कहीं प्रकट हुई हो--अथवा जिसका अस्तित्व शारीरिक आधार के विना कहीं रहा हो। जब तक ऐसा नहीं है तब तक तो साहित्य में अन्तर और वाह्य दोनों लोकों का महत्व बना रहेगा। एक ओर—चेतना, गहनतर चेतना, गहनतम चेतना; और दूसरी ओर उसका आधार--प्रकृति, समाज, गत्यात्मक, विकासात्मक, प्रगतिशील इतिहास।

अतः साहित्य मानव को गहन से गहनतर चेतन स्थिति में अवतरित करता हुआ उसको जीवन, समाज और इतिहास की विकास दिशा का इंगित देता चले। इसी में व्यक्ति का आनन्द भी समाहित है और समाज का भी। यह मान लेना ग़लत होगा कि व्यक्ति का आनन्द प्रकृति और समाज निरपेक्ष है, और यह मान लेना भी ग़लत होगा कि प्रकृति और समाज के विकास का अर्थ व्यक्तिगत चेतना में आनन्द की अभिवृद्धि करना नहीं है। सच्ची कला और साहित्य का स्वतः सहज प्रतिफलन गहनतर चेतना और प्रगतिशील दृष्टिकोण में होता है।

उक्त विचार की स्पष्टता के लिये अब हम एक ऐसी साहित्यिक कृति का अध्ययन करेंगे जिसमें उपर्युक्त दोनों तथ्य सहज ढंग से समाहित हों। सच्चा साहित्यकार युग का वोधदाता और विकास की दिशा का इंगित करने वाला होता है--अपनी कला द्वारा वह सहज ही मानव एवं समाज विकास की दिशा का मधुर आभास करा जाता है—जैसे "गोदान" में प्रेमचन्द।

गाँधीजी और गांधीवाद से प्रभावित होकर प्रेमचंद ने 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम' और 'रङ्गभूमि' में भारत के हिन्दू-समाज और पीड़ित-किसान की समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया होगा। अपनी इन कृतियों में प्रेमचंद ने गांधीवाद के वताये हुए रास्ते पर इन समस्याओं को सुलझा भी दिया होगा। किन्तु उनकी संवेदनशील और मार्मिक आँखें तो इस वास्तविकता को फिर भी देखती ही रही कि समस्या सचमुच कुछ सुलझी नहीं है। दुख वढ़ता ही गया है। उनका वतलाया हुआ रास्ता तथ्यहीन और ढकोसला मात्र हो रहा है। तव वे सहमे, ठहरे और गूढ़दृष्टि से देखा। इस सहमने में, ठहरने में और एकाग्र और तीक्ष्ण दृष्टि से देखने

में उनका अभूतपूर्व मानसिक और भावात्मक विकास हुआ। वे गांधी जी और गांधीवाद दोनों को पीछे छोड़ गए; उनको कोसा नहीं, उनको स्पष्टतः तथ्यहीन भी नहीं बतलाया। उनको केवल अपने भाग्य पर छोड़कर स्वयं आगे को चल दिये। हृदय पर आधिपत्य हुआ—होरीराम का। होरीराम अपने आपको बरबस उनके हृदय की गहराई में अंकित करता हुआ चला जा रहा था। सब कुछ मिटाकर सब कुछ हटाकर, वह उनके अन्तरतम हृदय में बैठ गया। फिर प्रेमचन्द ने अपना हृदय, चीरा जैसा होरीराम था वैसा हमारे सम्मुख उपस्थित करके स्वयं विलीन हो गए।—मानो होरीराम के चले जाने पर उनके लिये भी कुछ नहीं रहा और वे भी चल दिए।

बौद्धिक-विकास—बुद्धि पर आधिपत्य हुआ प्रो० मेहता का। २० वीं शताब्दी (पूर्वार्द्ध) तक के विज्ञान, दर्शन और बौद्धिक चिंतन के फलस्वरूप जिस उच्चतम स्तर तक—जिस अन्तिम लिमिट तक एक मनुष्य का मानसिक अथवा बौद्धिक विकास हो सकता था, उतना मानसिक और बौधिक विकास प्रो० मेहता का हुआ। प्रो० मेहता का आदर्श विकसित हुआ और वह आदर्श किसी स्वप्नलोक, किसी 'क्षितिज के उस पार' का आदर्श नहीं किन्तु इसी लोक के विज्ञान और बौद्धिक चिन्तन पर स्थित आदर्श। हम स्पष्टतया देख सकते हैं कि प्रेमचन्द का भी मानसिक विकास इस हद तक हो चुका था—इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता। इस विकास में वे गांधी जी और गांधीवाद की मध्य-युगीय संस्कृति और भावनाओं के आधार को तिलाञ्जलि दे (विज्ञान का अध्ययन किये बिना ही केवल सहानुभूति मात्र से) आधुनिक वैज्ञानिक सत्य और रेशनेलिजम (Rationalism) के आधार पर अपने आदर्श को स्थित करते हैं। प्रो० मेहता के मानसिक विकास की प्रो० जूलिअन हक्सले के मानसिक विकास से तुलना कीजिए। प्रो० हक्सले को एच. जी. वैल्स, शॉ, बर्टरंड रसल आदि के समकक्ष आधुनिक युगीय बौद्धिक विकास का प्रतिनिधि मान सकते हैं। और यही दिखलाने के लिये कि प्रो० मेहता का मानसिक विकास आधुनिक वैज्ञानिक और बौद्धिक विकास की कोटि का है हम उनके विचारों की प्रो० हक्सले के

विचारों से तुलना करते हैं। प्रो० मेहता—"किसी सर्वज्ञ ईश्वर में उनका विश्वास न था। यह धारणा उनके मन में दृढ़ हो गई थी कि प्राणियों के जन्म-मरण, दुख-सुख पाप-पुण्य में कोई ईश्वरीय विधान नहीं है"। प्रो० हक्सले—'I do not believe in the existence of god or gods, so far as we can see the universe rules itself". (मैं परमात्मा अथवा देवताओं की सत्ता में विश्वास नहीं करता। जहाँ तक हमें ज्ञात है संसार अपने आप से ही परिचालित होता है) अर्थात् संसार के कार्य-कलापों में कोई ईश्वरीय विधान नहीं। दोनों के विचारों की समता स्पष्ट है। प्रो० मेहता—"अगर ईश्वर के विधान इतने अज्ञेय हैं कि मनुष्य की समझ में नहीं आते तो उन्हें मानने ही में मनुष्य को क्या संतोष मिल सकता है।" प्रो० हक्सले—"Even if a god does exist behind or above the universe, we can have no knowledge of such a power........... There are a number of questions that it is no use our asking." (यदि इस संसार के ऊपर या परे किसी ईश्वर की सत्ता मान भी लें तो भी हम ऐसी शक्ति के विपय में कुछ जान नहीं सकते। कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनका हल करने के प्रयत्न से कुछ लाभ नहीं) अर्थात् उस अज्ञेय शक्ति के विषय में हम कुछ मान भी लें, कुछ कल्पना भी करलें तो उससे मनुष्य को क्या सन्तोष मिल सकता है!) प्रो० मेहता—"द्वैत और अद्वैत का व्यावहारिक महत्व के सिवाय वह और कोई उपयोग नहीं समझते थे। और वह व्यवहारिक महत्व उनके लिए मानव-जाति को एक दूसरे के समीप लाना, आपस के भेद को मिटाना और भ्रातृभाव को दृढ़ करना ही था।" प्रो० हक्सले—"If we translate salvation into terms of this world, we find that it means...........also achieving some satisfactory adjustment between ourselves and the outer world including not only the world of nature but the social world of man" (यदि मुक्ति अथवा अद्वैत

भावना को इसी संसार की भाषा में परिणत करके देखें, अर्थात् उसको इसी संसार की कोई व्यावहारिक वस्तु मान कर देखें तो उसका यही अर्थ निकलता है कि हममें और बाह्य संसार में जिसमें प्राकृतिक पदार्थ और मनुष्य-समाज दोनों आ गए, कोई सुखद सामञ्जस्यपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो जाय)।

प्रो० मेहता—"और जो यह ईश्वर और मोक्ष का चक्कर है इस पर तो हमें हंसी आती है। यह मोक्ष और उपासना अहङ्कार की पराकाष्ठा है जो हमारी मानवता को नष्ट किये डालती है। जहाँ जीवन है, क्रीड़ा है, चहक है, प्रेम है, वहीं ईश्वर है। और जीवन को सुखी बनाना ही उपासना और मोक्ष है।"

प्रो० हक्सले—"I believe that there exists a scale of heararchy of values ranging from simple physical comforts to the highest satisfaction of love, aesthetic enjoyment etc. I do not believe that these are transcendental in the sense of being vouchsafed by some external power or divinity ; they are the product of human nature interacting with the outer world. ....Salvation means achieving harmony between different parts of our nature."

(मेरा विश्वास है कि जीवन में शुद्ध शारीरिक सुख से लेकर प्रेम और कलात्मक रसानुभूति आदि तक उत्तरोत्तर मूल्य की कई वस्तुएं हैं। ये इस अर्थ में अलौकिक (अपार्थिव) नहीं कि ये किसी अज्ञात अथवा परमात्म-शक्ति के फलस्वरूप हैं। ये तो केवल मनुष्य प्रकृति और बाह्य संसार की आपस में क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हैं।............... मनुष्य प्रकृति के विभिन्न भागों में सामञ्जस्य स्थापित करना ही मोक्ष है।)

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्द अपने अन्तिम वर्षों में मध्य-युगीय और गांधीवाद के सांस्कृतिक आधार को पीछे छोड़ आधुनिक

वैज्ञानिक और बौद्धिक (Rational) आधार को अपनाते हैं। विकासमय और प्रगतिशील संसार में वे अपने आपको मानसिक परतन्त्रता में जकड़े हुए, पीछे अंधेरे में कैसे छोड़ सकते थे। उनका मानसिक परतन्त्रता के अंधेरे से मानसिक स्वतन्त्रता के आलोक में पदार्पण करना कितना सुखद है।

भावात्मक-विकास—ऊपर कह ही आए हैं कि प्रेमचन्द के हृदय पर आधिपत्य हुआ होरीराम का। जिस प्रकार भक्त भगवान में, प्रेमी-प्रेमिका में विलीन रहते हैं उसी प्रकार प्रेमचन्द होरीराम में विलीन हैं। भक्त भगवान में लीन होकर उनकी खूब व्याख्या करता है, उनके स्वरूप का खूब निरूपण करता है, फिर भी उसके भगवान अदृष्ट से रह जाते हैं। किन्तु प्रेमचन्द के होरीराम का स्वरूप तो इतना सजीव हो उठा है, वह पग-पग पर प्रत्यक्ष है—पग-पग पर वास्तविक होरीराम दृष्टिगत है। उसका स्वरूप एक बार देख लेने पर फिर हृदय से भुलाया नहीं जाता। क्या तुमने उसके दर्शन किये हैं ? वह मँझले कद का, सांवलापन लिए हुए गेहूँआ रंग का जीर्ण-शीर्ण, विपन्न और उदासीन-सा, परम्परागत लकीर पर चलने वाला भोला कृषक है। भोला किन्तु छली भी, धर्मात्मा किन्तु स्वार्थी भी—पैसे को दांत से पकड़ने वाला। मानवता विहीन और तथ्यहीन बिरादरी और समाज का पक्का पिछ-लग्गू किन्तु विधवा झुनिया और चमारिन सिल्लो को आश्रय देनेवाला। ऐसा होरीराम है जो तथ्यहीन परम्परागत संस्कारों और विश्वासों का पुतला है किन्तु जिसमें मानव मोह और सहानुभूति सर्वथा लुप्त नहीं हुए हैं। वह कर्मण्य भी है अकर्मण्य भी। सुख से रोटी पाने की आशा में चौबीसों घंटे पिला रहता है ; किन्तु इतना अकर्मण्य कि अपनी लीक से बाहर नज़र उठा कर देखने की तकलीफ नहीं करता। वह संस्कारों और परिस्थितियों के नीचे दबा हुआ इतना भीरु और डरपोक है कि पेट भरने की इच्छा रखते हुए भी अपनी असहायता और विपन्नता में हाथ में आया हुआ पैसा तक उद्विग्न होकर फेंक देता है—और फिर भूखा मरता है। मनुष्य के जीवन में इससे अधिक भयानक ट्रेजेडी (Tragedy) और क्या होगी ?

होरीराम के चरित्र में कोई क्रमागत विकास नहीं है। होरीराम के अंत:करण में (महान चरित्रों के समान) "चेतन" और "अचेतन" का द्वन्द्व नहीं, सूक्ष्म विचार और भावों की उथल-पुथल नहीं। प्रेमचन्द ने होरीराम का चरित्र चित्रण नहीं किया है—केवल उसका चित्र खेंचा है। किन्तु चित्र ऐसा है जिसका 'बाहर' भी स्पष्ट और 'अंतर' भी स्पष्ट—होरीराम जैसा है, वैसा का वैसा तल्लीनता से बना बनाया तैयार। इस चित्र की सजीवता और वास्तविकता के सन्मुख "सुमन", "प्रेमशंकर" "सूरदास" आदि के विकासगत चरित्रों की रूपरेखा तक क्षीण पड़ जाती है। वे हम से दूरस्थ हो जाते हैं—एक होरीराम बच जाता है, वह हमेशा के लिए बचा रहेगा। वे बाह्य परिस्थितियां और वे संस्कार जिनके नीचे होरी दबा पड़ा था किसकी उपस्थित की हुई थीं और क्यों—उनसे छुटकारे का क्या रास्ता था, होरी का आदर्श जीवन क्या होता यदि वे परिस्थितियां और संस्कार नहीं होते—इन सबका विश्लेषण और निरूपण प्रेमचन्द ने नहीं किया। उनका हृदय तो होरी के प्रति इतना सहानुभूति-पूर्ण हो गया था कि उनकी दृष्टि उधर गई ही नहीं और वे होरी को जैसा वह अपनी परिस्थितियों में था वैसा का वैसा अंकित कर गए। इससे अधिक वास्तविक "सत्य" मैंने और कहीं कुछ नहीं देखा। होरी के जीवन की वास्तविकता को मैं होरी के साथ रहकर भी इतनी नहीं जान सकता था जितनी मैंने उसकी कहानी पढ़कर जानी। 'गोदान' होरीराम ही की तो कहानी है। इस होरीराम की जीवन कथा लिखने का प्रेमचन्द का क्या उद्देश्य था? कला का क्या उद्देश्य होता है? कोई प्राकृतिक अथवा मानवीय दृश्य आंखों पर अंकित होता है, प्रकृति अथवा जीवन का कोई रहस्य बुद्धि द्वारा उद्घाटित होता है, वह रहस्य अथवा वह दृश्य जब हृदय-भूमि में अवतरित होता है, हृदय की अनुभूति होती है—जब ज्ञान भक्ति में प्रविष्ट होता है, और दृश्य भाव में, जब हृदय बुद्धि द्वारा प्रकाशित उस रहस्य की विराटता और विस्मयता में लीन होकर आनंदातिरेक में मग्न होता है, और उस दृश्य की सुन्दरता, करुणा आदि से एक रस होकर भाव मग्न हो उठता है; तब हृदय उस

आनंदातिरेक में उस भावमग्नता में अनजाने स्वतः ही चिल्ला उठता है। हृदय के इस चिल्लाने में ही कला और काव्य की निष्पत्ति है। होरीराम का चित्र, वाह्य और आभ्यंतर "दृष्टि" और 'सहानुभूति' द्वारा प्रेमचंद के अन्तर में अवतरित होकर उनके हृदय पटल पर अंकित हुआ। वे होरीराम में लीन हो गए, उनकी आंखें मिच गईं, वे चिल्ला उठे—भाव विभोर होकर। उनका चिल्लाना अंकित हुआ 'गोदान' में। अगर वे इस प्रकार चिल्ला नहीं उठते तो उनके हृदय का भार हलका कैसे होता?—उनका जीवन ही सफल कैसे होता ? उनके जीवन की महानता और उस महान जीवन की महान सफलता है—"गोदान" का होरीराम। होरीराम अपने स्वार्थ, मोह, भीरुता और मानवता को लिए हुए इतना सुन्दर लगता है कि यदि गाँधीजी भी मेरे पास अपनी सत्य और नैतिकता के जोम में आयें तो उनसे भी कहदूँ आपकी और मेरी नहीं पट सकती, आपका मैं साथ नहीं कर सकता, आप चाहे जहाँ जाएँ। किन्तु यदि होरीराम मेरे पास आए तो मैं उसके गले से लिपट कर नाचूँ, गाऊँ रोऊं—उसे छोड़ूँ नहीं !

महाकाव्य—'गोदान' है तो होरीराम की कहानी किन्तु यह होरीराम है बड़ा विशाल। उसमें एक युग और एक पूर्ण वर्ग सन्निहित है। 'गोदान' में होरीराम भारतीय किसान, उसकी परम्परा और विश्वासों का प्रतीक है। उसी किसान वर्ग का इसमें सर्वाङ्गपूर्ण चित्र है। इसमें आधुनिक काल के वौद्धिक अथवा मानसिक विकास का निचोड़ भी है। 'गोदान' मेरे लिए उपन्यास नहीं' किन्तु महाकाव्य हैं। महाकाव्य की शास्त्रिक परिभाषा के अनुसार यह महाकाव्य न हो—यह गद्य है। किन्तु महाकाव्य के समान 'गोदान' का एक जातीय महत्त्व है। इसका नायक विशाल पीड़ित मानव का प्रतिनिधि है और वह एक विशाल मनुष्य वर्ग की भावनाओं और संस्कृति का प्रतिनिधित्व भी करता है। प्रतिपीड़न की धीर और गम्भीर ध्वनि भी इसमें प्रवाहित होती रहती है। तुलसी कृत "मानस"—वेद, पुराण, धर्म-शास्त्र आदि में विदित जो संस्कृति, सभ्यता और चितन है, उन सबके समन्वित सार-तत्व का महाकाव्य है। यह मध्यकालीन युग में निर्मित हुआ और उसी

मध्यकालीन युग की हिंदू संस्कृति, जीवन और चिन्ताओं का चित्रण इसमें है। इसी रूप में हम 'गोदान' को आधुनिक युग का भारतीय महाकाव्य मानते हैं। यह २० वीं शताब्दी (पूर्वार्द्ध) के वास्तविक भारतीय जीवन, चिंता, समस्या, विचार और अवयव-विच्छेदोन्मुख (disintegrating) संस्कृति का महाकाव्य है। जिस प्रकार हिंदू-धर्म, संस्कृति और जीवन का सर्वाङ्गपूर्णरूप "मानस" में एकत्रित मिलता है, उसी प्रकार आधुनिक भारत के जीवन, मानसिक चिन्ताओं और भावों का सर्वाङ्गपूर्ण रूप एक स्थान पर एकत्रित 'गोदान' के सिवाय अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। मेरी दृष्टि में 'गोदान' इसीलिए इस युग का महाकाव्य हुआ। एक अन्तर अवश्य है। "मानस" की राम-कहानी में आदर्शवादिता है, किन्तु होरीराम की कहानी में घोर वास्त-विकता। सुना जाता है कि फ्रेंच उपन्यासकार ज़ोला मजदूर-वर्ग की वास्तविक दशा, प्रवृत्ति और भावना जानने के लिए और उनका स्वतः अनुभव करने के लिए उत्तरीय फ्रांस और बैलजियम की कोयले की खदानों में एक नोट बुक हाथ में लिए हुए छः महीने तक घूमा था। किन्तु प्रेमचन्द का हृदय तो जीवन के प्रारंभ ही से भारतीय किसान के साथ रहता आया था—जैसे प्रेमचन्द उस देहाती किसान में ही घुल मिल गये हों। प्रेमचन्द की कला की भित्ति ही देहाती किसान है। जोला (zola) की "जरमीनल" (Germinal) को संसार का एक श्रेष्ठ यथार्थवादी (Realist) उपन्यास माना जाता है किन्तु प्रेमचन्द के 'गोदान' की यथार्थवादिता (Realism) उससे कम नहीं। 'गोदान' के यथार्थवाद की भयंकर व्यथा (Tragedy) हृदय को मसोस देती है। यह व्यथा गम्भीर, उदात्त, प्रतापी नायक की दुःखान्त कथा के फलस्वरूप नहीं, यह व्यथा तो है निस्सहाय, पीड़ित मानवता के प्रतीक एक अतितुच्छ 'होरी' नामक प्राणी की दुखान्त कहानी के प्रति—वह होरी जो किसी प्रकार जी कड़ा करके अपने जीवन की गाड़ी को धकेले चलता है, चाहे वह एक निर्दिष्ट परम्परागत लीक पर ही हो। इस जीवन में उल्लासमय और नवीन कुछ भी नहीं। भारत का यही जीवन तो है। वह मृतप्राय किसी न किसी

प्रकार घिसटता हुआ चला जाता है। वह किसी को अपमानित नहीं करता, स्वयं अपमानित होता है। किसी को डण्डा नहीं मारता, स्वयं डण्डा खाता है। न तो जीता ही है न मर ही जाता। इससे अधिक दुःखान्त एवं करुणापूर्ण कथा और क्या होगी ? माना 'रवि' और 'शरद' की तरह यह कथा उच्च, सूक्ष्म मानसिक स्तर पर नहीं चलती और न यहाँ सूक्ष्म भावनाओं की अधिक उथल-पथल ही है, माना यह स्थूल, दैहिक स्तर पर प्रवाहित होने वाली कथा है किन्तु वह स्थूल दैहिक स्तर है तो आज की एक वास्तविक सत्य ना ! पहिले उसके देखे विना आगे सूक्ष्म स्तर पर कैसे पहुंचना होगा !

छिन्न होती हुई संस्कृति की झलक—गॉल्सवर्दी लिखित अंग्रेजी में 'फॉरसाइट सागा' एक उपन्यास है। उसमें "सोएम्स" नामक एक चरित्र जातीय जन्मगत भूस्वामित्व (Racial instinct of ownership) के विचार और भावना का प्रतीक वन कर आता है। दूसरे दो चरित्र हैं 'वोजिने" और "आयरीन"। ये दोनों सौन्दर्य, कला और प्रेम की सूक्ष्म भावनाओं के प्रतीक हैं। इस भू-स्वामित्व और मानव-हृदय की सूक्ष्म भावनाओं का विरोध उस उपन्यास में प्रदर्शित किया गया है, और यह भी निर्देश किया गया है कि उस वर्ग में जोकि "स्वामित्व" का प्रतिनिधि है, अंग-विच्छेद होना (Disintegration) प्रारम्भ हो गया है। वास्तव में इङ्गलेण्ड में पुराने (Conservative) जमींदारों और पूंजीवादियों का एक वहुत वड़ा वर्ग है जो जीवन की प्रत्येक घटना अथवा भावना का मूल्य पैसों के आँकड़ों में आँकता है, उसके लिए प्रेम, सौन्दर्य के प्रति आकर्षण आदि सूक्ष्म भावनाओं का कोई मूल्य नहीं, यदि ये चीजें उसके भौतिक स्वार्थ (Monetary interest) की सिद्धि नहीं करती हों। आधुनिक काल में ऐसा वर्ग हिन्दुस्तान में भी उत्पन्न हो गया है और हमारे समय की यह एक वास्तविक समस्या है—'क्या हम अपने मानवीय व्यक्तित्व (Human personality) हमारी परिवर्तन, प्रेम और सौन्दर्य की भावनाओं को उन लोगों द्वारा कुचलवाते रहेंगे जो भूमि और पैसे

के स्वामी हैं। कुछ-कुछ, इसी प्रकार के एक सांस्कृतिक द्वन्द्व का आभास हमें 'गोदान' में मिलता है।

'गोदान' में भारतीय किसान की देहाती संस्कृति का एक मजबूत किला बना हुआ है। किसान की अपनी परम्परा होती है, अपने रस्म, रिवाज और विश्वास होते हैं, उसमें कौटुम्बिक मोह और अपनी बिरादरी और समाज के प्रति अन्ध आदर होता है। परम्परागत भूमि के (Ownership) स्वामित्व की तीव्र भावना भी इसमें होती है। "जमीन ही पर तो किसान की इज्जत और आबरू अवलम्बित है। जिसके पास जमीन नहीं वह गृहस्थ नहीं मजदूर है।" इस भारतीय किसान, उसकी परम्परा, भावनाओं और विश्वासों का प्रतीक है—होरीराम! इसके प्रति विरोध होता है 'गोबर' का, जो नई आर्थिक परिस्थितियों और नई भावनाओं का प्रतीक है। होरीराम के कुटुम्ब में होरीराम भूमि-स्वामित्व की भावना, परम्परागत विश्वासों और जाति-गत भावनाओं का पुतला है। गोबर—होरीराम का लड़का—इस भू-स्वामित्व की भावना, परम्परागत विश्वासों और जातिगत भावनाओं में कुछ भी सार नहीं देखता।

परम्परा के विरुद्ध पहला काम जो गोबर करता है, वह है—एक विधवा का हाथ पकड़ना। ऐसा करते ही पहले तो उसका साहस टूट जाता है और वह शहर की तरफ भाग जाता है। वहाँ कुछ देखता है, कुछ सीखता है। कुछ महीनों बाद घर लौट कर आता है। माता-पिता से इसी पुरानी परम्परा, सामाजिक रूढ़ियों की प्रतिष्ठा, और लोकनिन्दा के विषय में कुछ झगड़ा हो जाता है। माँ जब कहती है—"बिना पाले ही इतने बड़े हो गए!" तो गोबर खरी-खरी सुनाता है—"पालने में तुम्हारा लगा क्या? जब तक बच्चा था दूध पिला दिया, फिर लावारिस की तरह छोड़ दिया, जो सबने खाया वही मैंने खाया, मेरे लिए दूध नहीं आता था, मक्खन नहीं बंधा था और अब तुम भी चाहती हो और दादा भी चाहते हैं कि मैं सारा कर्जा चुकाऊं, लगान दूं, लड़कियों का ब्याह करूं—जैसे मेरी जिन्दगी तुम्हारा देना भरने के ही लिए है।" ये कितने कटु वचन हैं, लेकिन हैं कितने वास्तविक और सत्य। भारतीय

जीवन के एक वास्तविक सत्य को सामने रखकर हृदय को तिलमिला देने वाले—होरी के शब्दों के प्रति बुद्धि को यह कहना ही पड़ता है "हाँ सचमुच"। गोबर इसीलिए अपने घर वालों से चिढ़ गया है। "अब उसने सुना और समझा है कि अपना भाग्य खुद बनाना होगा। अपनी बुद्धि और साहस से इन आफतों पर विजय पानी होगी, कोई देवता कोई गुप्त शक्ति उनकी मदद करने नहीं आयेगी।"

'महतो' का पुत्र 'महतो' ही है—इस परम्परागत भावना के मूल्य को वह अब कुछ भी नहीं आँकता। इसका कुछ भी आदर नहीं करता —इसे लात मार देता है, उसको किञ्चितमात्र भी चिन्ता नहीं होती कि वह किसान की परम्परा को तोड़ रहा है, उसे समूल नष्ट कर रहा है। इस प्रकार हमें आभास मिलता है कि किसान की संस्कृति और परम्परा में अंग-विच्छेद (Disintegration) प्रारंभ हो गया है। पुरानी भावनाओं और विश्वासों के प्रति नये विश्वासों और भावनाओं का विरोध (Conflict) उपस्थित हो गया है। नई भावनाओं के प्रतीक गोबर का आखिर होता क्या है ? प्रेमचन्द गोबर को अपने माता-पिता के प्रति फिर सम्वेदनशील तो बना देते हैं, किन्तु यह देख कर कि घर में कुछ सुधार नहीं हो सकता, वह अपने माता-पिता और घर को अपने भाग्य पर छोड़ कर फिर शहर की ओर नौकरी करने चल ही देता है। आगे गोबर का क्या होता है, क्या होगा, प्रेमचन्द तब देख भी कैसे सकते थे। इतना ही आभास कराना पर्याप्त था कि पुराने घर में चिनगारी लग चुकी है।

'गोदान' अलग ही एक वस्तु है। उसकी समानता प्रेमचन्द के अन्य किसी उपन्यास से नहीं की जा सकती। 'गोदान का होरीराम "रामायण" के राम से भी बड़ा है। रामायण के 'देवताराम' ने तो १४ वर्ष के वनवास और थोड़े काल के लिए सीताहरण से ही मेरे हृदय को करुणा से द्रवित किया था—किन्तु—'गोदान' का मानव होरीराम तो अपनी "पीड़ित मानवता" से मुझे प्रति पल दुःख दे रहा है ना !

मानव-निर्माण का प्रश्न

मानव निर्माण से हमारा अभिप्राय यह है कि वह स्वयं स्वस्थ और प्रसन्न हो, साथ ही साथ दूसरों की अस्वस्थता और दुख का कारण न बने एवं परिवर्तनशील (अर्थात् प्रगतिशील) परिस्थितियों में भी तदनुसार अपना स्वास्थ्य और प्रसन्नता बनाये रक्खे, अपना सामञ्जस्य न खो बैठे, और दूसरों के दुख का कारण न बन जाय। ऐसा न होने से युद्ध और विनाश होता है और असभ्य एवं अंधकारमय स्थिति की ओर प्रत्यावर्तन।

निर्माण-एक सामाजिक प्रश्न—जब हम निर्माण की बात कहते हैं तो इस प्रश्न को सामाजिक दृष्टि से देखते हैं। अर्थात् हम यह मानते हैं कि मानव निर्माण एक सामाजिक प्रश्न है—एक सामूहिक, सबके हिलमिल कर सोचने और हल करने का प्रश्न। कोई एक व्यक्ति यह कह सकता है कि मेरा सुख तो केवल स्व-सापेक्ष है, शेष सृष्टि या समाज सापेक्ष नहीं, मेरी प्रसन्नता किसी भी अन्य वस्तु या किसी भी अन्य जन पर आधारित नहीं, यहाँ तक कि मेरा स्वास्थ्य भी मेरे अतिरिक्त किसी परिस्थिति या जन पर अवलम्बित नहीं। हम किसी भी ऐसे व्यक्ति की कल्पना नहीं करते, यहाँ तक कि किसी भी 'पहुँचे हुए' सन्यासी या योगी का भी अस्तित्व हम प्रकृति या समाज भोजन द्वारा प्रदत्त पर अवलम्बित मानते हैं जो यदि उसे न मिले तो वह तड़फड़ा जाय। फिर भी ऐसा व्तक्ति यदि कोई है तो हम उसे एक अपवाद मानते हैं। वह इस पृथ्वी पर समूह में रहने वाले (और प्रायः सभी समूह में रहते हैं) मनुष्यों के दायरे से बाहर है, अतः हमारी विवेचना का विषय नहीं। हमारी विवेचना में तो मानव-निर्माण प्राकृतिक-सामाजिक वातावरण-सापेक्ष है। इस बाह्य वातावरण-सापेक्षता का यह अर्थ नहीं कि मानव पूर्णतया जैसा भी है, इसी वातावरण का फल है, किन्तु वह एक

ऐसी अभिव्यक्ति है जो अपने कुछ जन्मजात जात-गुणों (हेरेडिटी) और वातावरण की क्रिया प्रति-क्रियाओं से होती रहती है।

अतः जब हम मानव-निर्माण की बात सोचते हैं तो जात-गुण (हेरेडिटी) और वातावरण का प्रश्न हमारे सामने आ जाता है। वैसे तो निर्माण के प्रश्न के अनेक दृष्टिकोण हैं, किन्तु यहां 'जातगुण' और 'वातावरण' की दृष्टि से ही हम इस प्रश्न का संक्षेप में विवेचन करेंगे।

असमानता क्यों ?—हम चाहते तो यह हैं कि सब स्वस्थ हों, सब आनन्दमय हों। सब में वाञ्छित सामाजिक गुण हों, जिसे दूसरे शब्दों में 'अच्छाई' या 'नैतिक गुण' कहा जाता है; किसी में समाज-विरोधी तत्त्व न हों, जिसे बुराई या अनैतिकता कहा जाता है। किन्तु हम पाते हैं कि कोई व्यक्ति तो लम्बा, सुडौल और स्वस्थ है, कोई कमजोर और अस्वस्थ है; कोई व्यक्ति विशेष बुद्धिमान और प्रतिभाशाली है, कोई अपेक्षाकृत कम और कोई-कोई तो बिल्कुल मूढ़ जिसमे किंचितमात्र भी बौद्धिक विकास की सम्भावना ही न हो; किसी किसी में सच्चे सहयोग के गुण हैं, किसी किसी में हिंसात्मक विरोध के। ऐसा क्यों ?—ऐसी असमानता और भेद क्यों ? बिना किसी बहस में पड़े, 'ईश्वरेच्छा' और 'कर्मवाद' में इस असमानता का कारण ढूँढने की बात तो हम यहां छोड़ देते हैं, यह तो वैज्ञानिक की परिधि के बाहर की बात है। वैज्ञानिक की दृष्टि में तो इस भेद का कारण—ऐसा कारण जो स्थाप्य (Verifiable)—है, "जातगुण और वातावरण" में मिलता है।

जात गुण और वातावरण का अर्थ और हमारी मूल समस्या—जातगुण से हमारा मतलब उन 'गुणों' या तत्त्वों से है जो किसी भी प्राणी में उसके जन्म के (गर्भ में उद्भव के) समय वर्तमान होते हैं—ये तत्त्व माता-पिता के रज-वीर्य के जीवत अंश में से किसी प्रकार नव-जात प्राणी में आते हैं। वातावरण से हमारा अर्थ उन सब बातों या शक्तियों से है जो बाहर से प्राणी को प्रभावित करती हैं यथा, प्राणी चारों तरफ गर्भाशय का प्रभाव; फिर घर, कुटुम्ब, ग्राम, विद्यालय, प्रकृति, समाज इत्यादि अनेक संस्थाओं और स्थितियों का प्रभाव। तो

व्यक्तियों में रंग-रूप, स्वास्थ्य, बुद्धि और मानस् और नैतिकतापरक भेदों का कारण हम उक्त 'जात-गुण और वातावरण' में मानते हैं। भेद और असमानता की बात जहाँ आती है वहाँ हमें एक बात और ध्यान में रखनी चाहिये। उक्त प्रकार के भेद या असमानता के अतिरिक्त एक सामाजिक असमानता भी होती है—जैसे किसी को उच्च वर्ण का मान लिया जाता है, किसी को नीच वर्ण का; कोई धनी होता है, कोई निर्धन; कोई राजकीय अफसर है तो अधिक सम्मानित और मजदूर है तो कम सम्मानित। इस प्रकार की सामाजिक असमानता कोई बुनियादी असमानता नहीं होती, यह तो तुरन्त दूर की जा सकती है; राजकीय क़ानूनों से एवं धन-वितरण की संस्था में सुधार से जिसकी विवेचना हमें यहाँ नहीं करनी है। खैर, हम यह कह रहे थे कि मानव में अच्छे स्वास्थ्य, बुद्धि, मानस और नैतिक गुणों का भाव-अभाव, 'जात-गुण' पर निर्भर है। हमारे सामने यह समस्या नहीं कि व्यक्तियों में उपरोक्त गुण, भेद या असमानताओं को हम सर्वथा मिटा दें; ये रहें,—किन्तु हम चाहते हैं कि इन गुणों की ऋणात्मक (नेगेटिव) स्थिति जहाँ तक हो सके किन्हीं भी व्यक्तियों में न हो, अर्थात् सभी स्वस्थ हों, सभी की बुद्धि अच्छी हो, सभी का मानस या स्वभाव अच्छा हो, सभी वांछित नैतिक गुण हों, जिससे सभ्यता की गति रुद्ध न हो, मानव विकास की अपनी अनन्त संभावनाओं को फलीभूत करता चला जाय। किंतु यह मानते हुए कि हममें गुण-अवगुण तीव्र-मंद बुद्धि, स्वास्थ्य-अस्वास्थ्य, इत्यादि की असमानताएँ जात-गुण और वातावरण की वजह से हैं, क्या हम यह भी मानते हैं कि 'जात-गुण' एवं 'वातावरण' की शक्तियों पर हमारा पूर्ण नियंत्रण है, उन पर हमारा पूरा अधिकार है, उनमें मनचाही व्यवस्था बैठा के या मनचाहा परिवर्तन पैदा करके हम मानव में मनवाञ्छित गुण पैदा कर सकते हैं—मन-वाञ्छित फल पैदा कर सकते हैं? मूल प्रश्न यही है—यह प्रश्न जटिल भी है।

जात-गुण पर कहां तक हमारा नियंत्रण है:—प्रारंभ में ही इतना कह देना ग़लत नहीं होगा कि जहां तक मानव जाति के जात-गुण (हेरेडिटी) में परिवर्तन करके (जो यदि होगा तो बहुत शनैः शनैः होगा)

हमेशा के लिए या अनेक वर्षों के लिए सम्पूर्ण मानवजाति (ह्यूमन् स्पीसीज) में ही वंश-परम्परागत वांछित गुण पैदा कर लेने का प्रश्न है—इसकी व्यावहारिक सम्भावना अभीतक पैदा नहीं हो पाई है। किन्तु एक समाज-शास्त्री के लिए इस प्रश्न को इस तरह टालदेना इतना सरल नहीं है। इस प्रश्न का विवेचन जीव-शास्त्र एवं जनन-विद्या (जेनेटिक्स) के पर्याप्त ज्ञान की अपेक्षा रखता है जिसकी कोई भी समाज-शास्त्री उपेक्षा नहीं कर सकता। किन्तु मेरे लिए इस प्रश्न की गहनता में जाना संभव नहीं। जीव एवं जनन-शास्त्रवेत्ताओं द्वारा इन पिछले वर्षों में जो कुछ सामान्य तथ्य उद्घाटित हुए हैं उनमें से जिन का सीधा सम्बन्ध हमारे विषय से है उनकी ओर, पारिभाषिक शब्दों को टालने का प्रयास करते हुए, संकेतमात्र से उल्लेख किया जा सकता है।

रूस के जनन-शास्त्र-वेत्ताओं को छोड़कर संसार के अन्य वैज्ञानिकों में आज यह विचार प्रायः सर्वमान्य है कि शरीर में जात-गुण (हेरेडिटी) सम्बन्धी भी एक विशेष भौतिक संस्थान होता है—जैसे पाचन या श्वास संस्थान होते हैं। यह संस्थान कुछ निश्चित संख्या में छोटे-छोटे धागों जैसे अवयवों जिन्हें क्रोमोसोम्स कहते हैं, और उन पर गुंथित अनेक परमाणुओं जिन्हें जनि (जीन्स) कहते हैं, द्वारा निर्मित होता है। यह संस्थान प्रजनन-कोष्ठ (जर्मसेल) में स्थित होता है। जातगुण उक्त जनि (जीन्स) पर निर्भर हैं। बहुत अंशों तक यह पता लगाया जा चुका है कि किस प्रकार इस 'जनि' द्वारा जातगुण एक वंश से दूसरे वंश में चलता रहता है। वातावरण या अभ्यास या किसी विशेष शारीरिक अवयव के सतत प्रयोग-अप्रयोग के प्रभाव-स्वरूप शरीर द्वारा संग्रहीत गुणों या परिवर्तनों का कोई असर जनि पर नहीं होता। अतः शरीर द्वारा अपनाये गये गुण या परिवर्तन प्राणी से उसके संतान में नहीं जाते, अर्थात् ऐसे परिवर्तन वंशानुगत ('इनहेरिट') नहीं होते। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि वातावरण में मन चाहा परिवर्तन करके एवं यह परिवर्तन कई पीढ़ियों तक क़ायम रखकर भी, या दीर्घकालीन, यहां तक कि अनेक वंशों तक सतत चालू किसी शारीरिक या मानसिक

अभ्यास से भी, जातगुण में हम मनचाहा परिवर्तन नहीं कर सकते। यदि परिवर्तन होता है—और परिवर्तन तो हुए हैं जिनसे जीव-जातियां ही भिन्न से भिन्न हो गई हैं—तो वह इस प्रकार कि अकस्मात् या किसी अज्ञात कारण-वश किसी विशेष जीव जाति के किसी विशेष व्यक्ति के 'जनि' में सहसा कुछ नया परिवर्तन उपस्थित होता है, जिसके फल-स्वरूप कुछ शारीरिक परिवर्तन भी होता है; यदि यह परिवर्तन प्राकृतिक वातावरण के अनुकूल हुआ तो "प्राकृतिक निर्वाचन" द्वारा शनैः शनैः यह परिवर्तन वंश परम्परागत बन जाता है और एक नये गुणवाली जाति (स्पीशीज या सब-स्पीशीज) पैदा हो जाती है। इस जात-गुण परिवर्तन में हमने देखा कि मनुष्य का नियंत्रण नहीं था, यह तो अकस्मात् "भाग्यवश" कुछ हो गया।

किन्तु सन् १९४८ में सोवियट एकेडेमी ऑफ साइंसेस् के सदस्य जीव-शास्त्रवेत्ता लाइसेंको ने जनन-शास्त्र सम्बन्धी एक महत्त्वपूर्ण, क्रांतिकारी घोषणा की, जो उपरोक्त मान्य सिद्धान्तों के प्रतिकूल थी। मूल में इसका आशय यह था कि 'उचित' समय में वातावरण में परि-वर्तन से, या किसी विशेष अवयव के प्रयोग-अप्रयोग से, या वनस्पतियों में एक नस्ल की टहनी दूसरी नस्ल में बैठा देने (ग्राफ्टिंग) से जात-गुण पर आघात किया जा सकता है और शनैः शनैः उसे बदला जा सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि "हम प्राणियों में किसी निश्चित दिशा में बाध्य परिस्थितियों के प्रभाव से आंतरिक कार्य-प्रणाली में परिवर्तन कर उनको अपनी इच्छानुकूल बदल सकते हैं"—(विज्ञान)। और वस्तुतः उसने एक विशेष रूसी गेहूं के बीज में ऐसे परिवर्तन उपस्थित कर दिये कि जो बीज पहले वर्ष में केवल एक ही बार फलता था, अब दो बार फलने लगा, जो पहले सर्दी के महीनों में ही फल देता था, अब वसन्त में भी फल देने लगा। जनन-शास्त्र सम्बन्धी सर्वमान्य सिद्धान्तों के प्रति यह एक चुनौती थी। यूरोप के वैज्ञानिकों ने तुरन्त इसका परीक्षण किया। प्रायः सभी ने परीक्षण के बाद यही निर्णय निकाला कि लाइ-सेन्को का सिद्धान्त असिद्ध है। गेहूं के बीज में जातगुण के परिवर्तन की बात लेकर उन्होंने कहा कि यह परिवर्तन तो एक ही पीढ़ी तक संभव

था, बीज में वह परिवर्तन स्थायी, वंश परम्परागत नहीं हो गया था। और यदि यह भी मान लिया जाय कि वह परिवर्तन स्थायी था, जात-गुण में परिवर्तन था, तो उसका कारण मनुष्य द्वारा नियंत्रित वातावरण में नहीं था, उसका कारण उनके सिद्धान्त के अनुसार प्राकृतिक निर्वाचन में निहित था। खैर, जो कुछ भी हो, विज्ञान ने उन्नति की है और वनस्पति-उत्पादक आज विज्ञान द्वारा उद्घाटित प्रजनन कोष्ठ, प्रजनन-शास्त्र, जातगुण और विकास सम्बन्धी तथ्यों के आधार पर अपनी इच्छानुकूल पौधे उत्पन्न करने में सफल हुआ है। केवल पौधे ही नहीं किन्तु इस ज्ञान की सहायता से घरेलू पशु की भी नस्ल सुधारी जा सकी है। यह भी ज्ञात हो चुका है कि 'जनि' क्ष-रश्मियों द्वारा प्रभावित किये जा सकते हैं, यद्यपि यह प्रभाव अभी तक सदैव बुरा पाया गया है। सम्भवत: भविष्य में क्ष-रश्मियों द्वारा या अन्य उपायों द्वारा जातगुण के वाहक 'जनि' में अच्छा प्रभाव भी पैदा किया जा सके। यद्यपि आज हमारे पास यह व्यावहारिक संभावना नहीं है कि मानवजाति के 'जातगुण' में हम मनोवाञ्छित परिवर्तन स्थापित कर सकें, किन्तु विज्ञान हमारे सामने भविष्य के लिये महान् आकर्षक संभावनाएँ उपस्थित करता है। यह हमें एक विचार, एक 'विजन' (दृष्टि) देता है। वह यह कि जब वनस्पति और पशुओं में जनन विद्या द्वारा गुणात्मक परिवर्तन संभव हो सके हैं, जो कुछ वर्ष पूर्व संभव नहीं था, तो सचमुच ऐसी कल्पना की जा सकती है कि मानव में भी वाँछित गुणात्मक परिवर्तन उत्पन्न किये जा सकें, एवं मानव-जाति को ही इस प्रकार सुधारा जा सके।

वातावरण पर कहाँ तक हमारा नियंत्रण है ?—यह ऊपर कहा जा चुका है कि मनुष्य जैसे भी जो कुछ हैं—अच्छे या बुरे, कुछ तो अपने जातगुण की वजह से हैं, कुछ वातावरण की वजह से। जातगुण की बात कह देने के बाद अब हम बहुत संक्षेप में इस की विवेचना करेंगे कि 'वातावरण' कहाँ तक हमारे अधिकार की वस्तु है ? यह स्पष्ट है कि जातगुण की अपेक्षा उचित वातावरण पैदा करने में हमारा हाथ अधिक हो सकता है। आधुनिक शरीर-विज्ञान, औषध-विज्ञान एवं

बीमारियों सम्बन्धी अद्भुत अन्वेषणों के फलस्वरूप कई देशों से कई भयंकर रोग जैसे चेचक, प्लेग, हैज़ा, कोढ़ इत्यादि प्रायः समूल नष्ट कर दिये गये हैं; वैज्ञानिक उपायों द्वारा उत्पादन में वृद्धि करके कई देशों में अधिक लोगों के लिए संतुलित भोज उपलब्ध कर दिया गया है जिस का शरीर, बुद्धि और स्वभाव पर स्वस्थ प्रभाव होना अनिवार्य है। शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन, कला, साहित्य, संगीत आदि के साधन अधिक लोगों के लिए अधिक स्वतंत्रता से उपलब्ध हैं। जहाँ कहीं भी लोगों के लिए स्वास्थ्यप्रद रहन-सहन, मकान, भोजन, शिक्षा इत्यादि के साधन जिनसे उचित वातावरण बनता है, उपलब्ध नहीं हैं, विज्ञान की सहायता एवं उचित सामाजिक-राजनैतिक व्यवस्था से उपलब्ध कराये जा सकते हैं, इत्यादि। किन्तु यह नहीं मान लेना चाहिए कि प्रकृति और सामाजिक शक्तियों पर हमारा पूर्ण नियंत्रण हो चुका है—इतना स्पष्ट है कि प्राकृतिक एवं सामाजिक विज्ञान के नियमों को उत्तरोत्तर अधिक समझते हुए हम इन पर अपना नियंत्रण अधिक से अधिकतर कर सकते हैं।

जातगुण और वातावरण में अधिक महत्त्व किसका?—यह एक पुरातन प्रश्न है, अतीतकाल से आज तक इस पर बहस होती आई है। इस सम्बन्ध में आज तो विद्वानों के निष्कर्ष से यह कहना कठिन है कि दोनों में से अधिक महत्त्व किस का है? वस्तुतः मनुष्यों की सब शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक, स्वभावगत विशेषताएँ वातावरण और जातगुण की परस्पर क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं के फल हैं। जैसा मनोविज्ञानवेत्ता वुडवर्थ ने कहा है, "माली अपनी आशा भूमि की तैय्यारी पर बांधेगा या अच्छे बीजों पर? एक अच्छा व्यावहारिक माली तो जानता है कि दोनों आवश्यक हैं—बीज कितना ही अच्छा हो किन्तु यदि मिट्टी अच्छी नहीं है, और इसी प्रकार मिट्टी कितनी ही अच्छी हो यदि बीज अच्छा नहीं है तो अच्छी पौध नहीं उगाई जा सकती। अतः मानव के निर्माण में जातगुण या वातावरण इन दोनों में से किसी की अवहेलना करना निरी मूर्खता होगी।"

जातगुण सम्बन्धी हमारा ज्ञान उत्तरोत्तर वर्धनशील जीव-शास्त्र, जनन-शास्त्र (जेनेटिक्स) और विशेषकर यूजेनिक्स (नस्ल-सुधार)

विज्ञान के प्रकाश में बढ़ रहा है, वातावरण सम्बन्धी हमारा ज्ञान प्रकृति-विज्ञान एवं सामाजिक-विज्ञान के प्रकाश में बढ़ रहा है और इस प्रकार इसकी अधिक से अधिक संभावनाएं होती चली जा रही हैं कि हमारा निर्माण हमारे ही हाथों में हो। हमारे स्वास्थ्य, सुख और परस्पर शान्ति का निर्माण सब मिल-जुल कर हम स्वयं ही करें।

मानव व्यक्तित्व का ऐतिहासिक महत्व

मनुष्य प्राथमिकतः चाहता है कि रोटी कमाने का सम्मानपूर्ण साधन बना रहे, रोटी की फिक्र उसके मानस को दबा न डाले, और बीमारी से साधारणतः वह पीड़ित न हो।

विगत युगों में, विशेषकर मानव इतिहास के मध्ययुग में, मनुष्य प्रायः यही समझता था कि यदि कोई ग़रीब और भूखा है, बीमारी से पीड़ित है तो इसका कारण ईश्वरेच्छा या उस व्यक्ति विशेष के पूर्व कर्म हैं,—ये बातें ईश्वराधीन, भाग्याधीन हैं, मानव के अधीन नहीं। उसको प्रायः यह कल्पना भी नहीं होती थी, कुछ अपवादों को छोड़कर, कि इस बात का समाज-संगठन या राज्य से कोई सम्बन्ध भी हो सकता है, समाज या राज्य पर भी इसका कोई उत्तरदायित्व आ सकता है।

किन्तु आधुनिक युग के आगमन के साथ साथ, विशेषकर पिछली शताब्दी से मनुष्य यह सोचने लगा कि वह ऐसे समाज का निर्माण करे जिसमें सब मनुष्यों को अच्छा रोटी कपड़ा और साफ़ सुथरे मकान मिलें; शिक्षा, मनोरंजन और स्वतंत्र विकास के समान साधन उपलब्ध हों,—जिससे मानव सुखी रहे। कई नये सिद्धान्त और तरीके सोचे गये जिससे ऐसे समाज का निर्माण किया जाय।

किन्तु प्रश्न यही है कि ऐसे सुखी समाज का निर्माण कर लेना सचमुच मनुष्य स्वयं के अधीन है? या, ऐसा होना न होना मनुष्य के बस में नहीं, मनुष्य से अलग केवल किसी परोक्ष शक्ति (ईश्वर, कर्मबंधन,

प्रकृति के जड़ नियम) के अधीन है ? जो समाज निर्माण की बात सोचते हैं, जो नया सुखी समाज बनाने की सोचते हैं, उनके दिमाग़ में उक्त प्रश्न का असंदिग्ध स्पष्ट उत्तर होना चाहिये। उनके दिमाग़ में स्पष्ट होना चाहिये कि मनुष्य को रोटी की फिक्र और बीमारी की पीड़ा से मुक्त कर देना क्या उनके अधीन और अधिकार की बात है ; या ऐसा चाहना केवल भुलावा-मात्र है ? और यदि ऐसा कर लेना उनके अधीन है तो क्या पूर्णतः उनके अधीन है या कुछ सीमा तक ही, यदि कुछ ही सीमा तक तो किस सीमा तक ? दूसरे शब्दों में प्रश्न यही है कि किस हद तक सचमुच हमारे भाग्य पर और अपने समाज संगठन और विकास गति पर हमारा अधिकार है ?

इस प्रश्न को पहिले हम सीधा अपने भारतीय जीवन और भारतीय समाज पर घटाकर देखते हैं क्योंकि हमारा जीवन और हमारा समाज ही हमारे सबसे अधिक निकट है। आज, कम से कम भारत में तो, हम किसी की भी आंतरिक हालत जानने का प्रयत्न करते हैं तो यही पाते हैं कि एक मुख्य फिक्र जो उसकी चेतना को हर वक्त दबाये रहती है वह बहुधा यही है कि प्रतिदिन की रोटी का प्रबंध है या नहीं ; बीमारी के इलाज का प्रबंध है या नहीं ; नौकरी या कारोबार है या नहीं। क्या यह बात सच नहीं है ? आर्थिक दृष्टि से जीवन या सामाजिक सुरक्षा का भाव किसी के दिल में जमा हुआ नहीं। इसका प्रभाव हमारे सरल मानवीय भावनाओं पर भी परिलक्षित होता है। यथा, पिता का या बड़े कमाऊ पुत्र का परिवार में विशेष इसीलिये महत्त्व है कि वह कमा कर परिवार को पालता है। परिवार का बेकमाऊ व्यक्ति मर जाता है तो न तो विशेष कुछ बनता बिगड़ता है और न घर वालों को और न परिचित जनों को इतनी फिक्र होती है जितनी उस समय जब कोई कमाऊ व्यक्ति मर जाता है। हम इमानदारी से सोच कर देखें क्या ऐसी बात नहीं है ? किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व का मानो अपने में कुछ मूल्य नहीं। चाहे सब पर यह बात घटित नहीं होती हो किन्तु बहुजन समुदाय की तो यही दशा है। यह एक पीड़ित, बोझिल स्थिति है। समाज में फैले हुए क्या इस दुख, इस मानसिक क्षोभ, इस दबी हुई पीड़ित चेतना

का कारण विधाता (ईश्वर) या भाग्य है, या मनुष्य समाज स्वयं। हम भारतीय तो यह मानते हुए आये हैं और आज भी यहाँ का वहु-जन समुदाय यही मानता है कि इस ग़रीबी, बीमारी और दुःख-सुख का कारण कोई अदृश्य, परोक्ष शक्ति ही है—वह शक्ति ईश्वर स्वयं या पूर्वभव के कर्म जो इस जन्म में किसी तरह प्रतिफलित होते हैं। इस प्रकार मनुष्य और मनुष्य समाज का सुख दुःख ईश्वराधीन या कर्माधीन है। यदि यह ईश्वराधीन है तो मनुष्य पूर्णतया परतंत्र हुआ ही, यदि यह पूर्व कर्माधीन है तो इस स्थिति में भी मनुष्य प्रायः पराधीन ही रहा, क्योंकि पूर्व-भव के कर्मों पर इस जन्म के मनुष्य का क्या नियंत्रण ? वे कर्म तो हो चुके, वे तो नियमानुसार प्रतिफलित होंगे ही, अतः उन कर्मों के अनुसार इस जन्म में दुःख सुख भोगना ही पड़ेगा ; इनको टालने में मनुष्य स्वतंत्र नहीं। इस मान्यता के अनुसार कल्पना कीजिये : आज आपका घर जल गया। सचमुच कोई अदृश्य परा-प्रकृति शक्ति थी जो यह चाह रही थी कि आपका घर जल जाय, एवं इसी उद्देश्य से वह शक्ति साधन और परिस्थितियों का संगठन कर रही थी और ऐसा कर लेने पर उसने आपका घर जला दिया।

ऐसा एक विश्वास वना हुआ है। वस्तु-स्थिति को समझने के लिये इस विश्वास का उद्भव (ओरिजिन) एवं इतिहास जानना आवश्यक है। किन्तु यह एक स्वतंत्र विषय है, और एक अनुसंधान का विषय है। यहाँ साधारण-ज्ञान दृष्टि के आधार पर इतना ही संकेत पर्याप्त है कि प्राचीन काल में प्रकृति, जीव, मनुष्य एवं उनके नानारूप एवं स्वभावजन्य विभिन्नताओं का कारण किसी एक अज्ञात परा-प्रकृति शक्ति, यथा प्रकृति से परे परोक्ष ईश्वर को ही मान लिया गया। और उस ईश्वर पर कहीं अन्याय भाव का आरोप न हो कालांतर में प्राणियों में स्वभावजन्य भेदों का कारण समझने के लिये कर्म-सिद्धान्त का प्रति-पादन हुआ। यह सिद्धान्त तत्कालीन सामाजिक परिस्थियों में तत्कालीन समाज नेताओं की समझ के विशेष अनुकूल होने के कारण साधा-रणजनों के मानस में धर्म-भाव से ग्रहण करा दिया गया। और तव

से आज तक चली आती हुई यह धारणा हम भारतीयों में संस्कार रूप से जमी हुई मिलती है।

ऐसा विश्वास केवल भारतीयों की ही विशेषता नहीं है। कुछ अपवादों को छोड़कर दुनियां में प्रायः साधारणजन सर्वत्र, अमेरिका और यूरोप में भी, प्रकृति एवं मानव से परे किसी परोक्ष सत्ता में मान्यता रखते रहे हैं और इसी विश्वास में अपना जीवन विताते रहे हैं कि उन का भाग्य-विधाता ईश्वर है। उनका दुःख-सुख ईश्वराधीन है। प्राचीन ग्रीस में तो कुछ दार्शनिकों जैसे पाइथागोरस इत्यादि ने विल्कुल भारतीय मत के अनुकूल कर्म-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था, और अनेक जन इसमें विश्वास भी रखते थे।

अब तक हमने देखा कि दो रूपों में मानव ने किसी परोक्ष सत्ता को अपने सुख-दुःख का आधार माना है। यथा ईश्वर और पूर्व-भव के कर्मवंधन। अठारवीं उन्नीसवीं शताब्दियों में यूरोप में विज्ञान की अनुपम उन्नति हुई, एवं तदनुकूल प्रकृति और प्रकृति के व्यापारों को सर्वथा ईश्वर-निरपेक्ष माना जाने लगा और धीरे धीरे यह धारणा वनी कि यह समस्त प्रकृति (जिसमें जींव-प्राणी भी आगये) अपने में ही व्याप्त किन्हीं अटल, हमेशा के लिये सिद्ध अपरिवर्तनशील नियमों के अनुसार चल रही है। भूत में जो कुछ था वह पूर्व निश्चित और पूर्व आयोजित था ; वर्तमान में जो कुछ है वह भी पूर्व आयोजित था और भविष्य में जो कुछ होगा वह भी पूर्व निर्धारित है। चेतनायुक्त मानव भी इसी प्रकृति का अंश है। प्रकृति से भिन्न वह कुछ नहीं अतः उसका भी उक्त प्राकृतिक नियमानुसार सव कुछ पूर्व निर्धारित है। प्रकृति के व्यापार और उसकी गति में (अपने स्वयं के व्यापार और गति में) वह स्वतंत्र रूप से कुछ नहीं कर सकता, उनमें स्वेच्छानुसार कुछ भी परिवर्तन नहीं ला सकता। इसमें मनुष्य की स्वतंत्र चेतना और स्वतंत्र इच्छा के लिये कोई स्थान नहीं रहता। सव कुछ प्रकृति-नियति द्वारा वंधा हुआ है। यदि हम सूक्ष्म निरीक्षण करें तो समझ पायेंगे कि उपरोक्त जड़वाद या प्रकृति-नियति भी एक प्रकार का भाग्यवाद है। धार्मिक या आध्यात्मिक भाग्यवाद में तो मानव ईश्वर या कर्मवाद से

बंधा हुआ था ; उक्त जड़वादी भाग्य-वाद में मानव प्रकृति-नियति से बंधा हुआ है । अपना भाग्य निर्माण करने में वह स्वतंत्र नहीं ।

अब तक भी जन साधारण बहुधा ऐसा ही समझता है । ऐसा समझने का कारण उसके पुराने संस्कार तो हैं हीं, किन्तु आधुनिक विषम जीवन में ऐसा समझने का एक और कारण भी है । सामाजिक संगठन के पेचीदा रूप और उसके परोक्ष प्रभाव से साधारण मनुष्य इतना अपरिचित है कि उसकी ग़रीबी और दुख का कारण वह किसी अदृश्य शक्ति को समझ लेता है, न कि समाज के विषम अनुपयुक्त संगठन को ।

अब इस प्रश्न की विवेचना करेंगे कि मनुष्य परोक्ष सत्ता या जड़-नियति से मुक्त स्वयं अपना तथा अपने समाज का भाग्य निर्माण करने में स्वतंत्र है या नहीं । विज्ञान का अब यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि वर्तमान नाना-रूप चेतनायुक्त सृष्टि प्रारम्भ में निष्प्राण, निश्चेतन भूत-द्रव्य (Matter) रूप में थी । उसका संचालन उसी भूत-पदार्थ में प्रच्छन्न या स्थित गत्यात्मकता की वजह से हो रहा था । यह सब कुछ अनजाने अचेतन स्थिति में हो रहा था । मूक अचेतन पदार्थ का कोई द्रष्टा अथवा बाहर या ऊपर से उसका संचालन करने वाला कोई नहीं था । अरबों अरबों वर्षों में शनैः शनैः उस निष्प्राण प्रकृति में जीवाणु का उद्भव (विकास) हुआ, और यही जीवाणु शनैः शनैः करोड़ों वर्षों में वनस्पति, पक्षी पशु के रूप में विकसित हुआ । उस स्थिति तक पहुंचने तक प्रकृति सर्वथा निश्चेतन तो न थी, उसमें चेतना का आगमन हो चुका था, किन्तु वह चेतना पूर्णतया अपने प्रति चैतन्य नहीं थी, और उसका परिचालन केवल कुछ जन्मजात प्रवृत्तियों द्वारा हो रहा था । उसमें स्वतः अपने आपको चलाने का भान तथा ज्ञान अभी उत्पन्न नहीं हुआ था । अतः जिस प्रकार मूक प्रकृति अपनी ही गत्यात्मकता से अनजाने परिचालित हो रही थी उसी प्रकार पशु स्थिति तक भी प्रकृति प्रायः अनजाने ही स्व-ज्ञान या आत्मज्ञान रहित सही या ग़लत तरीके से अपने जन्मजात स्वभावोंवश अपने आप परिचालित हो रही थी । उसमें ज्ञान-युक्त किसी प्राणी का हस्तक्षेप नहीं था । पशु-

स्थिति के पश्चात् प्रकृति में मानव का विकास हुआ। मानव बुद्धियुक्त एक प्राणी था जो पूर्णतः जड़ प्रकृति द्वारा परिचालित न होकर स्वयं भी स्वेच्छा से स्व-बुद्धि अनुसार अपने लिये भला बुरा कार्य करता था। मूक पदार्थ या पशु स्थिति से ऊपर मानव का अपने पर और अपने वातावरण पर विशेष नियंत्रण था, वह अपना रास्ता स्वयं परिचालित करने लगा था। अतः हम देखते हैं कि ज्यों ज्यों प्रकृति का विकास होता जाता है त्यों त्यों उसमें किसी न किसी रूप में स्वयं सचेतन स्व-नियंत्रण करने की शक्ति का भी विकास होता जाता है। विकास-क्रम में मानव प्राणी की स्थिति तक पहुँचते पहुँचते प्रकृति में यह सचेतन स्व-ज्ञात नियंत्रण करने की शक्ति पर्याप्त बढ़ जाती है। प्रकृति के सर्वोच्च विकसित रूप मनुष्य में किसी भी परोक्ष सत्ता से (ईश्वर, कर्मबंधन, जड़नियति से) निरपेक्ष, स्वेच्छानुकूल अपनी तथा अपने समाज की गति पर नियंत्रण करने की स्थिति आ जाती है।

अब हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि मानव का अपना और अपने समाज का सुख दुःख किस सीमा तक उसके नियंत्रण में है? स्वेच्छानुसार अपनी और अपने इतिहास की गति पर किस सीमा तक उस का अधिकार है? इस प्रश्न पर विचार करने के पूर्व हमें बतलाना पड़ेगा कि यदि मानव भाग्य ईश्वर और पूर्वजन्म निरपेक्ष है तो क्यों हम जीव-जगत में भिन्न भिन्न प्रकार की योनियाँ (स्पीशीज) पाते हैं; क्यों मानव मानव की बुद्धि, भावना और सुख दुःख में भेद पाते हैं? यह एक ऐसा प्रश्न है जो कई वैज्ञानिक सिद्धान्तों जैसे जीव-विकासवाद (बायोलोजिकल एवोल्यूशन) योनि-परिवर्तन (म्यूटेशन), प्राकृतिक निर्वाचन (नेचुरल सिलेक्शन) के विवेचन की अपेक्षा रखता है, जो यहाँ संभव नहीं। संक्षेप में इतना ही मान लेते हैं (जो कि मूल में उपरोक्त सिद्धान्तों के प्रतिकूल नहीं पड़ता) कि प्रकृति का स्वभाव ही विभिन्नता है। अतः सब प्राणी, सब मनुष्य समान नहीं हो सकते। यह बात ठीक है। किन्तु भूखा मरना या पीड़ित रहना प्राकृतिक या स्वाभाविक स्थिति नहीं है। अतः ऐसी स्थिति प्रकृति या ईश्वरकृत नहीं, मनुष्य-कृत है; एवं व्यक्ति या समाज के जीवन में भूख, बेरोज़गारी, ग़रीबी,

की विषम स्थिति को स्वयं मनुष्य ही ठीक कर सकता है। समाज-निर्माताओं का ध्येय प्रकृति और प्राणी में समानता लाना नहीं हो सकता, किन्तु सुन्दर सामाजिक व्यवस्था द्वारा भूख और पीड़ा का निवारण करना है। इसके लिये उत्पादन में यदि समस्त वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग करते हुए भी विश्व में समस्त जनता के लिये पौष्टिक भोजन और जीवन की अन्य स्वस्थकर सुविधायें उपलब्ध न हो सकें तो वुद्धि से, जाति प्रसार की प्राकृतिक गति पर रोक लगा कर परिवार और समाज में जनसंख्या की योजना वनाना आवश्यक मानवीय कर्त्तव्य होगा। नये प्राणियों को उत्पन्न करते रहना और उनको उत्पन्न कर वेवसी में भूखे, वीमार, अधमरे और पीड़ित रखना सिवाय अज्ञान के कुछ नहीं, विशेषकर जव कि ऐसा न होने देना हमारे अधिकार और वस की वात हो। अव प्रश्न यही रहा कि अपनी और अपने समाज की गति और सुख दुःख कहाँ तक हमारे अधिकार की वात है ?

हमने ऊपर देखा है कि मानव प्राणी प्रकृति में से ही उद्भूत (विकसित) एक अभिव्यक्ति है, प्रकृति का ही एक अंग है। फिर हम देखते हैं यह अकेला नहीं वरन् अन्य जनों में मिलकर समाज का संगठन करके रहता है; और फिर हम देखते हैं कि उस मानव में शेष प्रकृति से गुण में भिन्न एक गहनतर चेतना, मन, विचार, वुद्धि, स्वज्ञान (आत्म-ज्ञान) की स्थिति है। इस प्रकार मानव जीवन का आधार या प्रसार तीन दिशाओं में हुआ, यथा प्रकृति, समाज और मन (या अध्यात्म), मनुष्य की इन तीन दिशाओं पर उसका जितना ही अधिक नियंत्रण संभव हो सकता है, उतना ही अधिक उसके सुख दुःख और विकासगति पर उसका अधिकार हो सकता है, सवसे पहले हम उसके मन (अथवा अध्यात्म, अन्तर्लोक) की वात लें। उसको अपने ही पूर्वजों से नहीं किन्तु पूर्व-जात योनियों (स्पीशीज) से भी अत्यन्त प्राचीन काल से ही विरासत में कुछ जन्म-जात प्रवृत्तियाँ मिली हैं, जैसे जीवनेच्छा, जाति प्रसार की प्रवृत्ति इत्यादि। मनुष्य इन प्रवृत्तियों से मूलतः मुक्त नहीं हो सकता यद्यपि उनकी अभिव्यक्ति वह अपने विचार और सामाजिक वातावरण के अनुसार सुन्दर से सुन्दरतर कर सकता है। इस प्रकार

हम देखते हैं कि प्रवृत्तियों से मुक्त होने में वह पूर्णतः स्वतंत्र नहीं। किन्तु यह बात है कि भिन्न भिन्न मनुष्य अपनी अपनी प्रवृत्तियों की भिन्न भिन्न रूपों में अभिव्यक्ति करते हैं। यथा जीवनेच्छा की प्रवृति को लेकर कोई तो लड़ता मारता है, कोई सहकार और प्रेम करता है, कोई चोरी करके पेट भरता है, कोई काम करके। व्यवहार की यह भिन्नता जन्मजात या भाग्य-कृत नहीं, किन्तु अधिकांशतः भिन्न भिन्न मनुष्यों की भिन्न भिन्न सामाजिक कौटुम्बिक, सांस्कारिक इत्यादि परिस्थितियों बाह्य कारणों पर आधारित होती है। फिर जिस प्रकार उसकी जन्म-जात प्रवृत्तियों का उस पर बंधन है उसी प्रकार उसके ज्ञान या सीखने की शक्ति की भी, एवं उसकी कर्तृत्व-शक्ति की भी आखिर कोई सीमा है। एक दम वह नहीं जान सकता था कि हजारों मील दूर की वाणी वह अपने घर बैठे सुन सकता है, और न वह मंगल आदि ग्रहों तक पहुंचने की कल्पना कर सकता था। ये बातें समाज द्वारा पूर्व संचित और शनैः शनैः वर्धित ज्ञान और शक्ति के ही आधार पर संभव हो सकती थीं। यह बात सत्य है कि मनुष्य के ज्ञान का क्षेत्र एवं उसकी कर्तृत्व-शक्ति का क्षेत्र कल्पनातीत हो सकता है, किन्तु सम्पूर्ण क्षेत्र सहसा पार नहीं किया जा सकता।

इसी प्रकार मनुष्य की सामाजिक दिशा में भी उसके नियंत्रण क्षेत्र की कुछ सीमा है। समाज में ही कुछ परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिन पर उसका पूर्ण काबू सहसा नहीं हो सकता, एवं समाज विकास के ही कुछ नियम बन जाते हैं जिनका उल्लंघन वह नहीं कर सकता, अतः समाज-निर्माण के समय उसको उन परिस्थितियों और नियमों का बंधन बहुत हद तक स्वीकार करके ही चलना पड़ता है। इसी प्रकार मनुष्य के अस्तित्व की तीसरी दिशा प्रकृति है। ठीक है, अपनी सुविधानुकूल मनुष्य ने प्रकृति के विषय में, उसके नियमों के विषय में, बहुत जानकारी प्राप्त की है, प्राकृतिक स्थितियों को भी अपने अनुकूल बनाया है। किन्तु, अब भी प्राकृतिक जानकारी का अनंत क्षेत्र पड़ा हुआ है। सहसा सब कुछ जान लेने की कल्पना कैसे की जा सकती है?

फिर भी यह सत्य है कि प्रकृति, समाज एवं स्वयं के अन्तःकरण (मन, अध्यात्म) के विषय में मनुष्य अपने ज्ञान की वृद्धि करता हुआ अपनी स्थिति को उत्तरोत्तर अपने नियंत्रण में ला सकता है।

जो समाज निर्माण करना चाहते हैं उन्हें समझना होता है कि मनुष्य का जीवन प्रकृति-सापेक्ष है, समाज-सापेक्ष है, और तीसरी चीज़ है उसका अन्तस् या अन्तःकरण या उसकी आंतरिक दुनिया, या मनोविज्ञान की भाषा में कहें तो, उसका चरित्र। भौतिक-विज्ञान के द्वारा प्रकृति को उत्तरोत्तर समझता हुआ वह अपने जीवन का अधिक से अधिक सामंजस्य प्रकृति के साथ बैठाये ; सामाजिक विज्ञान के द्वारा वह इतिहास के, समाज के विकास की द्वन्द्वात्मक गतिविधि को समझता हुआ सामाजिक संगठन के रूप में उचित परिवर्तन करता चले, अर्थात् व्यक्ति और समाज के जीवन में उचित सामंजस्य बैठाता हुआ चले ; मनोविज्ञान के द्वारा अपनी आन्तरिक दुनिया को सच्चाई से समझता हुआ, अपनी आन्तरिक उलझनों को सुलझाता चले, अपने चरित्र का निर्माण करता चले, अपने आन्तरिक संसार में सामंजस्य बैठाता चले। प्राकृतिक, सामाजिक, आन्तरिक सामंजस्य (harmony) स्थापित करना मानव के अधिकार में है, इसी से मानव अपने आपको, और अपनी सभ्यता को बचा सकता है, अपने आपको सुखी और प्रसन्न बना सकता है। जिस प्रकृति-विज्ञान, समाज-विज्ञान और मनोविज्ञान की बात ऊपर की गई है वह एक उत्तरोत्तर वर्धनशील ज्ञान है, और यह ज्ञान वांछित फल तभी दे सकता है जब यह केवल कुछ ही जनों की पूंजी न रह कर जनसाधारण की निधि बन जाय—शिक्षा द्वारा। यह एक महान प्रयास होगा।

यह सुना जाता है कि सुख और शांति के लिये इस समस्त ज्ञान-प्रपंच की आवश्यकता नहीं। यदि केवल प्रेम और सद्भावना ही अपनाली जाय तो सुख की सिद्धि हो जाती है। किन्तु इस बात को नहीं भूलना चाहिये कि अज्ञानांधकार और विचारहीनता में प्रेम और सद्-भावना ही घोर दुःख के कारण बन जाते हैं। मां प्यार में अपने बच्चे को पुष्ट बनाने के खयाल से अज्ञानवश अधिक मिठाई खिला कर उसकी

बीमारी का कारण बन सकती है। ऊपर जो हमने यह कहा है कि मनुष्य किसी भी परोक्ष सत्ता (ईश्वर, कर्म-बंधन, जड़-नियति) से स्वतंत्र अपने तथा अपने समाज की गति पर नियंत्रण करने की स्थिति में है तो इस बात में किसी अध्यात्म-तत्त्व (डिविनिटी) या ब्रह्म (ईश्वर) में विश्वास या अविश्वास का प्रश्न नहीं उठता। यह स्थिति तो परमात्म-तत्त्व में विश्वास या अविश्वास से निरपेक्ष है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि कोई अध्यात्मतत्त्व (डिविनिटी) है तो उसकी अभिव्यक्ति मनुष्य के द्वारा ही होती है। जो अनंत परमात्म-तत्त्व है वह मानव तथा मानव समाज के सान्त रूप में (फाइनाइट) से ही अभिव्यक्त होता है। अपने आपको या अपने समाज को बचाने के लिये किसी परा-मानव शक्ति की अपेक्षा करना और स्वयं कुछ न कर बाट जोहते रहना कि वह परमात्म-शक्ति ही आकर सब कुछ ठीक करा देगी, उस परमात्म-तत्त्व को धोखा देने के सिवाय कुछ नहीं है। इससे कभी कोई परिणाम नहीं निकलता, न व्यक्तिगत भाग्य में, न समाज या राष्ट्र के भाग्य में। स्वयं मानव में ही ज्ञान-विज्ञान का वह प्रकाश है और सामाजिक संगठन की वह शक्ति है जो समाज में काफ़ी हद तक मानव जीवन को फिक्र, भारीपन और पीड़ना से मुक्त कर सकती है। कभी कभी ऐसा डर लगने लग जाता है कि मानव मन में इस धार्मिक भावना का कि प्रकृति और हम से पृथक हमारे कामों का कोई करुणामय, न्याय भावनायुक्त द्रष्टा है, आधार न होने से मानव दानव हो जायगा। किन्तु, नये वैज्ञानिक एवं दार्शनिक तथ्यों के प्रकाश में कोरे अंधविश्वास के सहारे उपरोक्त भावना से मानव मन को हमेशा प्रेरित नहीं रक्खा जा सकता, जैसा अंधकालीन मध्ययुग में संभव था। अतः सत्य को अपनाने में चाहे वह सत्य कठोर ही हो, किसी डर की आवश्यता नहीं। मनुष्य स्वयं अपने अनुभव से यह सीखे कि समाज में उसका जीवन सुखी और शांत तभी हो सकता है जब उसका व्यवहार सामाजिकता की भावना पर आधारित हो और वह अपने आपको एवं समाज को भाग्य के भरोसे लुढ़कने देने की अपनी मानसिक आदत को छोड़े। यदि मनुष्य इस पृथ्वी पर वांछित सामाजिकता की भावना नहीं अपना

सका एवं भाग्यवाद की अपनी आदत नहीं छोड़ सका तो कोई आश्चर्य नहीं कि उसे भी उसी विनाश मार्ग पर जाना पड़े जिस मार्ग से ऐतिहासिक युग के लुप्त वे दीर्घकाय प्राणी गये जिन्होंने अपने शरीर की वृद्धि को ही जीवन का ध्येय समझ लिया था। साथ ही साथ उपर्युक्त ईश्वर (ईश्वरेच्छा, कर्मबंधन, जड़-नियति) निरपेक्ष दृष्टि से समाज-निर्माण का प्रश्न सोचने वाले के लिये, जैसा ऊपर समझाया जा चुका है, यह आवश्यक नहीं कि ईश्वर या आत्मा या ब्रह्म में विश्वास ही न करे। महात्मा गाँधी ईश्वर में पूर्ण विश्वास रखते थे, किन्तु अपने समाज और देश में जो विषम और दुःखद परिस्थितियाँ थीं उनकी ओर से वे यह कह कर उदासीन और विरक्त नहीं हो गये थे कि इन बातों में हम मनुष्य क्या कर सकते हैं, जो कुछ ईश्वर को मंजूर होगा वह अपने आप ही हो जायगा, बल्कि अपने समाज, देश और विदेश की आज की परिस्थितियों का मनन करके और विश्वसमाज में आज क्या शक्तियाँ काम कर रही हैं इसका चिंतन करके वे अपनी तीव्र बुद्धि और गूढ़ दृष्टि से इन विषम सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों से पार होने के, और एक सुखद अवस्था तक पहुँचने के रास्ते के विषय में अपने ही एक विशेष निष्कर्ष पर पहुँचे थे। यह निष्कर्ष भाग्यवादी नहीं था बल्कि पदार्थ, इतिहास और समाज के तथ्यों पर निर्धारित एक रास्ता था। मूल बात यही है कि व्यक्ति और समाज का सुख दुःख मानव-सापेक्ष है, ईश्वर-सापेक्ष नहीं। और यदि कहीं किसी सर्वोत्तम की अभिव्यक्ति हो सकती है, यदि किसी सर्वोत्तम का विकास हो सकता है तो वह मनुष्य के द्वारा ही, एवं मनुष्य से ही,

"I am God still unevovled in human form"

(Sri Aurobindo)

यदि सब के लिये सुख-शाँतिदायक कोई सर्वोत्तम संगठन हो सकता है तो वह मनुष्य के ही द्वारा,—मनुष्य के बिना अन्य कोई ऐसा नहीं कर सकता। केवल मनुष्य में ही वह संगठन शक्ति, बुद्धि और भावना है कि वह ऐसा कर सके। केवल मनुष्य ही यह उद्घोषित कर सकता है :—"सब प्राणी सुखी हों, उनका कोई शत्रु न हो, उनका विनाश

न हो, आनन्दपूर्वक वे अपना जीवन व्यतीत करें। सब प्राणी दुःख से विमुक्त हों और सब को अपना अपना न्यायोचित अधिकार मिले।"

मानव विकास किस ओर

जीवित रह सकने की शर्त:—इस सृष्टि में किसी जीव-जाति के जीवित रह सकने की एक मुख्य शर्त है, और वह यह कि परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल वह जीव-जाति अपने आपको परिवर्तित करले, नवागत परिस्थितियों से अपना सामंजस्य वैठाले। जिस जाति जीव-जाति ने ऐसा किया वह कायम रह सकी। अनेक ऐसी जीव-जातियां जो परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुकूल अपने में उचित परिवर्तन नहीं ला सकीं समूल नष्ट हो गईं। मानव भी ऐसी ही एक जीव-जाति है। जब तक परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुकूल यह स्वयं परिवर्तित होती रहेगी तब तक कायम रहेगी, अन्यथा यह भी अन्य लुप्त जीव-जातियों के समान बिना किसी पर कुछ अहसान किये चुपचाप लुप्त हो सकती है,—सृष्टि के परदे से विलीन हो सकती है।

परिवर्तित परिस्थितियाँ:—आज मानव के चारों ओर की परिस्थितियां, प्राकृतिक एवं सामाजिक, मूलतः बदल चुकी हैं। प्राकृतिक परिस्थितियां इस प्रकार बदल चुकी हैं कि विज्ञान ने अपनी नवीनतम स्थापनाओं एवं क्रान्तिकारी आविष्कारों से हमारे समय और आकाश (Time-space: देशकाल) के मान में अभूतपूर्व परिवर्तन कर दिया है। उसने प्रकृति की चाल को रोकने और उसको बदलने की हमें शक्ति दे दी है, जैसे वनस्पति और प्राणियों में नस्ल परिवर्तन या नस्ल सुधार; सन्तानोत्पत्ति पर मन चाहा निरोध इत्यादि। एवं उसने प्राकृतिक शक्ति (जिसका एक रूप है सौर-शक्ति) के ज्ञान में, अतएव उसके उपयोग की संभावनाओं में, पर्याप्त वृद्धि करदी है। सामाजिक

परिस्थितियां इस तरह बदल चुकी हैं कि वैज्ञानिक आविष्कारों ने हमारे उत्पादन के ढंग में, उत्पादन वृद्धि की संभावनाओं में एक दम क्रांतिकारी परिवर्तन कर दिया है, एवं हमारे दैनिक जीवन में, रहन सहन में, हमारी सृजनकारी शक्तियों में, हमारी विनाशकारी शक्तियों में कल्पनातीत वृद्धि करदी है।

ऊपर हमने संकेत किया कि किस अभूतपूर्व विशाल पैमाने पर हमारी आविष्कारिक बुद्धि और साहस ने हमारी प्राकृतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन कर दिया है, और किस तीव्र गति से अब भी परिवर्तन जारी है;—इतनी तीव्र गति से परिवर्तन पिछले सौ सवा सौ वर्षों को छोड़ कर पहिले कभी भी नहीं हुआ; पिछले सौ सवा सौ वर्षों की उन्नति (परिस्थितियों में परिवर्तन) पहिले के ५० हजार वर्षों की उन्नति से, लगभग जब से वास्तविक मानव का अवतरण हुआ, एक दृष्टि से कहीं बढ़कर है।

किन्तु जिस प्रकार और जिस गति से इन परिस्थितियों में परिवर्तन हुआ उसके अनुरूप मानव के मानस में, विचार और भावनाओं में परिवर्तन नहीं हो पाया; मानव इन परिवर्तनों के अनुरूप अपना मानसिक सामंजस्य (mental adjustment) नहीं बैठा पाया; वह अपने पुराने (पूर्व प्राप्त, पूर्व निर्मित) संस्कारों, विचारों, भावनाओं और दृष्टिकोण को नहीं बदल सका।

इसलिए आज के मानव के सामने एक बहुत बड़ा प्रश्न है। या तो परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल मानसिक सामंजस्य की स्थापना या मानव-जाति का विनाश। अब विचारणीय बात यही है कि परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल मानव के मानस में कैसा परिवर्तन अपेक्षणीय है, कैसे मानसिक सामंजस्य की आवश्यकता है, अर्थात् अब किस दिशा की ओर मानस की प्रगति हो। मानव के विकास का अगला चरण क्या हो क्या इसका हमें कुछ आभास है ? इस विकास का संभवतः यह रूप हो सकता है:—

(१) सामाजिक-आर्थिक रूढ़ मान्यताओं एवं जाति-धर्म के रूढ़ बंधनों से मानव चेतना विमुक्त हो।

(२) मानव व्यक्तित्व "सामाजिक व्यक्तित्व" हो।

(३) वस्तुओं, जीवन और सृष्टि के प्रति मानव का दृष्टिकोण वैज्ञानिक हो।

इन विचारों का विश्लेषण-स्पष्टीकरण आवश्यक है। पहिले सामाजिक-आर्थिक रूढ़ मान्यताओं को लें। आज एक ओर पूंजीवाद की स्वार्थ भावना, एवं दूसरी ओर साम्यवाद की निर्मम कठोर विचार धारा के फलस्वरूप, दुनियां मे एक विषम परिस्थिति उत्पन्न हो गई है। दो गुटों में दुनियाँ वंट चुकी है, एक सामयवादी गुट जो सर्वहारा तानाशाही द्वारा दुनियां के आदमियों को सुखी बनाना चाहता है, दूसरा तथाकथित जनतन्त्रवादी गुट जो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता कायम रखते हुए इस मान्यता को लेकर चलता है कि भिन्न भिन्न देश अपनी अपनी विशेष परिस्थितियों के अनुरूप सामाजिक संगठन करके लोगों को सुखी बना लें। इन दो गुटों में भयंकर द्वन्द चल रहा है जो तीसरे विश्वयुद्ध की ओर उन्मुख है। इन दोनों गुटों की रूढ़िवादिता ने एवं एक दूसरे के प्रति असहिष्णुता के भाव ने मानव समाज को त्रासित कर रक्खा है। मानव दोनों विचारधाराओं की कट्टरता से विमुक्त होकर एक तरफ तो यह तथ्य समझले कि उत्पादन व्यक्तिगत लाभ के आधार पर नहीं वरन् समाज की आवश्यकताओं के आधार पर होना उचित है, दूसरी ओर यह समझ ले कि व्यक्तियों और देशों में परस्पर स्वतन्त्र विनिमय, आवागमन और विचार विमर्श से एवं परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप अपनी मान्यताओं में परिवर्तन होते रहने से नया प्रकाश मिलता है, और इस प्रकार समझ कर दोनों ओर के मानव परस्पर मिल कर यदि कोई एक ऐसी राजनैतिक-आर्थिक विश्व योजना बना सकें जो विश्व व्यापी होने की वजह से कई अन्शों में संभवतः होगी तो बड़े क्षेत्र में आयोजित सामूहिक ढंग की किंतु स्थानीय क्षेत्रों में ऐसी जिसमें सर्व साधारण की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और उत्तरदायित्व की भावना भी कायम रह सके तो आज की परिस्थितियों में मानव विकास का अगला चरण उठ सकेगा। सामाजिक-आर्थिक दृष्टि से तो बुनियादी बात यही है कि जब तक संसार में एक भी व्यक्ति को अपना पेट भरने के लिए और तन

ढकने के लिये किसी दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा करनी पड़ेगी—उसके मुंह की तरफ ताकना पड़ेगा, तव तक किसी न किसी रूप में युद्ध की संभावना वनी रहेगी। दूसरे शब्दों में,—समाज की शांति वुनियादी तौर से इस पर आधारित है कि प्रत्येक जन की उचित भौतिक आवश्यकतायें आत्म-सम्मानपूर्वक पूरी हों। वह सभ्यता कितनी निखरी हुई और शुद्ध होगी जिसमें ऐसा प्रवन्ध हो। आधुनिक मानव, यदि अपनी रूढ़ मान्यताओं को विसर्जित करने के लिए उद्यत हो तो आज के अपने शरीर-विज्ञान, प्रकृति-विज्ञान और सामाजिक-ज्ञान-विज्ञान के आधार पर ऐसी सभ्यता का विकास कर सकता है। जहां तक जाति-धर्म सम्वन्धी रूढ़ मान्यताओं का प्रश्न है, उनके विषय में इतना निश्चित कहा जा सकता है कि ईसाई, मुसलमान, हिन्दू, वौद्ध इत्यादि किसी भी धर्म के "समाज में संगठित" रूप ने मानव का अमंगल अधिक एवं मंगल कम किया है। जव से इन धर्मों के संगठित रूप का उदय हुआ तव से आज तक धर्म के नाम पर मानव का उत्पीड़न और उसकी हत्या प्रत्येक युग में दुनियाँ में किसी न किसी जगह होती रही है। वास्तविक धर्म तो मनुष्य की एक आन्तरिक प्रेरणा, एक परम आनन्ददायिनी भावना है। यह आन्तरिक भावात्मक अनुभूति हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, जैन, वौद्ध इत्यादि धर्मों का परिणाम नहीं, यह तो प्रत्येक मनुष्य की स्वतः कोई प्रेरणा है, उसके हृदय की कविता है। मानव मानस इस वात को पहिचान ले, इस अनुभूति की ओर उसका विकास हो।

विकास का उपर्युक्त दूसरा रूप है मानव में 'सामाजिक व्यक्तित्व' का विकास। अर्थात्, मानव के मानस में तत्वतः सामाजिकता का उदय हो, मानव स्वभावतः 'सामाजिक' वन जाय, सामाजिकता उसकी अनुभूति का एक प्राकृत अंग वन जाय, उसमें नैसर्गिक यह समझ हो कि समाज और सभ्यता का विकास साधारण जन की समाज के प्रति उत्तरदायित्व की भावना पर निर्भर करता है, और फिर यह समझे कि आज की परिस्थितियों में समाज, कोरे आदर्श की दृष्टि से नहीं किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से, एक-देशीय नहीं है, वरन् इतना विस्तृत होता जा रहा है कि उसकी भावना के अन्तर्गत अखिल मानव जाति समाविष्ट है।

विकास का तीसरा रूप था कि जीवन और सृष्टि के प्रति मानस का दृष्टिकोण वैज्ञानिक बने। वैज्ञानिक दृष्टिकोण अर्थात यह चेतना या समझ कि समाज में संगठित मनुष्य अपनी वुद्धि और भिन्न-भिन्न प्राकृतिक एवं सामाजिक शक्तियों के विश्लेषण आदि से प्राप्त ज्ञान के आधार पर, सब प्रकार की परोक्ष सत्ता से (जैसे देवी देवता, ईश्वर, कर्मफल, नियति आदि से) स्वतन्त्र अच्छी-वुरी जैसी चाहे अपनी तथा अपने समाज की व्यवस्था कर सकता है। दूसरे शब्दों में, वैज्ञानिक दृष्टिकोण यह मानकर चलता है कि व्यक्तिगत जीवन, समाज, राष्ट्र एवं सृष्टि के व्यापारों एवं संगठन में किसी भी परोक्ष सत्ता का (उपरोक्त देवी देवता, ईश्वर, कर्मफल, नियति का) विल्कुल भी दखल नहीं है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण की यह मूल प्रेरणा है कि मानव, समाज को अनिश्चित घटनाओं के या भाग्य के भरोसे लुढ़कने देने की अपनी मानसिक आदत को छोड़कर, स्वभावतः यह धारणा वनाये कि समाज की व्यवस्था मानव अधिकार की वस्तु है, मानव अपनी इच्छानुकूल अपने समाज की व्यवस्था कर सकता है।

क्या ऐसा विकास संभव है?—मानव का ऐसा परिवर्तन, उपर्युक्त दिशा की ओर विकास, कोई सरल वात नहीं है। इसका अर्थ है मानव के मानस (Mental construction) में एक अभूतपूर्व क्रांतिः—इसका अर्थ है उसकी वुद्धि, चेतना और मन में युगांतरकारी परिवर्तन होकर उसके समस्त मानस की नये आधारों पर पुनर्रचना। यह तभी संभव हो सकता है जव आज विश्व भर में प्रचलित शिक्षा संगठन में और उसके आदर्शों में आधारभूत परिवर्तन किया जाय और शिक्षा का इस प्रकार पुनः संगठन हो जिसमें मानव चेतना विमुक्त हो और उसमें वैज्ञानिक और उदार दृष्टि उद्भासित हो। इसका अर्थ है विश्वव्यापी सतत एक शिक्षणात्मक सांस्कृतिक आन्दोलन। यदि मानव अपने मानस को आज के वन्धनों से विमुक्त कर प्रगति का कदम उठा सका तो मानना चाहिये सृष्टि में नई आभा का उदय होगा अन्यथा अंधकारमय युग की ओर प्रत्यावर्त्तन।

पूर्ण विकसित मानव

पिछले अध्याय 'मानव विकास किस ओर' में उस दिशा की ओर संकेत किया गया है जिस ओर मानव विकास वांछनीय हो सकता है। यथा:—

मानव चेतना सामाजिक-आर्थिक-धार्मिक रूढ़ियों से विमुक्त हो, मानव व्यक्तित्व सामाजिक व्यक्तित्व बने, उसका दृष्टिकोण वैज्ञानिक हो। आधुनिक काल की बदली हुई सर्वथा नई प्राकृतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के साथ मानव जीवन का मधुर मेल बैठाने के लिये मानव में उक्त प्रकार के मानसिक विकास की तात्कालिक आवश्यकता है, जो एक विश्व व्यापी शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक आंदोलन से संभव हो सकता है।

इसी प्रश्न को एक दूसरे दृष्टिकोण से भी देखा जा सकता है जिसका संकेत पुस्तक की भूमिका "मैं क्या विश्वास करता हूँ" में हो चुका है। यथा :—"मानव स्वयं की गति उस ओर है जहाँ उसकी मानवीय चेतना में 'अतिमानस' स्थिति का विकास हो। विकास की इस स्थिति को प्राप्त मानव को हम 'पूर्ण विकसित मानव' कह सकते हैं। आज ऐसा माना जाता है कि श्री अरविंद ने अपने जीवन में इस स्थिति को उपलब्ध कर लिया था। मानो जब से इस सृष्टि में मानव प्राण और चेतना की अभिव्यक्ति हुई तबसे मानव ने जितने भी ज्ञान-विज्ञान-विचार-भावना-अनुभूति की प्राप्ति की उस सब की समाहिति श्री अरविंद में हुई—और इन सबको आत्मसात कर श्री अरविंद ने इस विश्व की विकास-प्रक्रिया में विकास का अगला चरण उठाया,—चेतन मानव को 'अतिचेतन' (अतिमानस) की उत्कृष्ट स्थिति का दर्शन कराया, केवल दर्शन ही नहीं कराया वरन् समस्त प्रकृति और मानव को उस उच्चतर

दिशा की ओर प्रेरित किया, एवं उसका अज्ञात, अंधकारपूर्ण विकास-मार्ग आलोकित किया।

वैसे तो पूर्व युगों में और इस युग में भी उक्त द्वन्द्व-रहित अतिमानस की उपलब्धि अन्य कई ऋषियों या महात्माओं ने की हो, किन्तु उस उपलब्धि का रूप उनके लिये एवं दूसरों के लिये भी केवल व्यक्तिगत साधना तक ही सीमित रहा, और उसकी परिणति व्यक्तिगत शांत निष्क्रिय समाधि में हुई न कि शेष प्रकृति की क्रियाशीलता में संलग्न होकर समग्र प्रकृति को ही आगे बढाने में। उनकी साधना ने यह स्पष्ट नहीं किया कि समस्त प्रकृति ही की गति इस ओर है। मानव को बुद्धिगम्य निश्चयात्मक ढंग से इस तथ्य का बोध श्री अरविंद ने ही करवाया--कि इस विश्व-प्रक्रिया में जिस प्रकार निष्प्राण अचेतन स्थिति में से प्राण और चेतना का उद्‌भव हुआ उसी प्रकार इस विश्व की समस्त प्रकृति, प्राण और चेतना में "अतिमानस" का उद्‌भव अवश्यंभावी है; साथ ही साथ मानव इस तथ्य की ओर जागृत रहता हुआ अपनी साधना द्वारा इस सृष्टि में 'अतिमानस' के अवतरण को सरल बना सकता है एवं उसको जल्दी भी ला सकता है।

वह कौनसी कला या विज्ञान है, कौनसी और कैसी साधना है जिससे अतिमानस (अतिचेतन) का अवतरण सरल हो सके? क्या श्री अरविंद स्वयं केवल अपने ही व्यक्तिगत योग में लीन नहीं रहे—अपने योगाभ्यास काल में कब वे प्रकृति और समाज की क्रियाशीलता में संलग्न हुए? इन्हीं प्रश्नों पर यहाँ विचार करना है।

योगी अरविन्द को २४ नवम्बर १९२६ के दिन आत्मदर्शन हुआ,—उनको सिद्धि प्राप्त हुई—वे ब्रह्म में लीन हुए। आत्मदर्शन तथा ब्रह्म में लीन होने के उपरान्त तो किसी कर्म की साधना बाकी नहीं रह जाती। पांडीचेरी की एक एकान्त गुहा में लुप्त, पुराना अदम्य क्रांतिकारी, किन्तु अपनी योग साधना के दिनों में संसार से दूर समाधिस्थ अरविन्द किस कर्मयोग की साधना कर रहा होगा--कुछ समझ में नहीं आता। माना अरविन्द विरक्त मुनि हो, मुक्त अरविन्द हो, ब्रह्मज्ञानी अरविन्द हो, किन्तु कर्मयोगी अरविन्द कैसा? समाज तथा इतिहास के

क्रांतिमय क्षेत्र से भी परे रह कर कहीं किसी कर्मयोग की साधना हो सकती है ?

किन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है—निस्तब्ध गुहा में छिपा हुआ उस का स्वर्णसम प्रकाशमान शरीर मानो अटूट विद्युत् शक्ति सम्पन्न बहुत ही सेंसिटिव एक प्लेट था—जिसकी ओर संसार के प्रत्येक घात प्रति-घात आंदोलन इतिहास की क्रिया-प्रक्रिया की करंट (Current) आकर्षित होकर मानो स्वयं पहुंचती रहती थी और वहां उसकी प्रति-क्रिया होती रहती थी। मानो आने वाली घटनायें गढ़ी जा रही हों—मानो सृष्टि की क्रियाशीलता में, सृष्टि के सतत विकास में वह स्वतः विद्यमान् हो।

अरविन्द के लिये आत्मतत्त्व, केवल "अव्यक्त", केवल 'ब्रह्म' सत्य नहीं—उसके लिये यह दृश्य संसार, हाहाकार मचाता हुआ संहार एवं मृदुल सर्जन, रुण्ड मुण्ड माला एवं नवनीत बालक, महाकाल रात्रि एवं रंगमयी उषा, खडग् एवं कमल, ये भी सत्य हैं—ये भी ब्रह्म ही हैं—ये भी स्वयं ईश्वर हैं—व्यक्त ब्रह्म—व्यक्त ईश्वर (God in its becoming) ये स्वप्न नहीं—ये माया (Hallucination) नहीं। यह अखिल सृष्टि, दृश्य-अदृश्य, व्यक्त-अव्यक्त सत्य-असत्य, संहार-सृजन, शांत-अशांत, आनन्द-विषाद, केवल एक ब्रह्म, एक ईश्वर में स्थिति है। उससे परे और कुछ नहीं है। यह ब्रह्म, यह ईश्वर केवल कृपालु, प्रेममय, केवल शिव नहीं यह महारुद्र भी है—केवल अम्बा नहीं महाकाली भी है। यह दुर्योधन का संहार करता है, किन्तु युधिष्ठर का भी, ईसा को सूली पर चढ़ाता है साथ ही ईसा को सूली पर चढ़ाने वाले को भी नहीं छोड़ता। सृष्टि का यह आदिसत्य निर्भय एवं निश्चय अरविन्द को मान्य है। उसको मान्य है—"सृष्टि को सीधा देखना मानो स्वयं ईश्वर को देखना है। ईश्वर एवं सृष्टि पृथक नहीं।" इस सृष्टि का नियम संहार एवं सृजन दोनों है। मानो अनादिकाल से वेद यह कहता चला आ रहा हो "संहार के द्वारा ही सृजन एवं पालन, सृष्टि का यही प्रथम नियम मैंने बनाया है।" सृष्टि, शिव के तांडव नृत्य एवं मग्न समाधि दोनों में स्थिति है—ताण्डव नृत्य एवं मग्न समाधि दोनों

का योग ही पूर्णता है—अरविन्द का योग यही पूर्ण योग है। उसमें नृत्य भी है साथ साथ महासमाधि भी। इस संसार को असत्य असार मानता हुआ कोई विरक्त किन्तु अपूर्ण साधु अपनी यौगिक साधना में अनन्त के साथ एकात्मानुभूति करता हुआ शून्य में लीन हो सकता है, किन्तु शिव के ताण्डव नृत्य को आत्मसात करने में वह असमर्थ है,—सृष्टि के वास्तविक अस्तित्व (existence of the universe) को जहाँ सत्य असत्य, सुन्दर असुन्दर दोनों रंग हैं—वह नहीं समझा सकता। किन्तु अरविन्द परमात्मा में स्थित हैं, साथ साथ ताण्डव नृत्य में भी लीन हैं—झंकृत होती हुई इस सृष्टि में भी अपनी तान मिला रहे हैं।

यह कैसे—अरे, सृष्टि में क्रूरता है, इसमें संहार है, छोटे जीवों का बड़े जीवों द्वारा भक्षण है, विषाद है, मृत्यु है—ऐसे व्यापार में योगी कैसे लीन हो सकता है? ऐसे कर्म में योगी संन्यासी कहीं प्रवृत्त हो सकता है?—किन्तु ऐसा होता है। यह मुक्त जीव, अतिमानस-सम्पन्न प्राणी, इस संसार में रहता हुआ अंतर्बहिर दोनों जगत का स्वामी होता है। अंतर में स्वयं-मुग्ध, बहिर में कर्म-मुग्ध। ऐसा होना एक सतत विकासात्मक प्रणाली है—(A course of gradual development) इस प्रणाली में मानवीय चेतना युक्त प्रकृतिबद्ध जीव प्रकृति से परिचालित हो कर—कर्म में प्रवृत रहता हुआ "जीवन कला" (योग-साधन) द्वारा—स्वतंत्र, ईश्वरीय-चेतना युक्त स्थिति (State of super consciousness) को प्राप्त होता है। ऐसा स्वतंत्र ईश्वरीय-चेतना युक्त जीव मंगलमय समाधि में भी स्थित है, कर्म में भी प्रवृत्त है। उसका कर्म स्वतंत्र एवं सार्वभौम होता है—सृष्टि को स्थित रखने वाला, एवं उसको सहारा देने वाला।

इस "जीवन कला" (योग साधना) में कई बातें हैं। मानव इस सृष्टि में एक उच्च विकास युक्त प्राणी है। उसका विकास हुआ है—जड़ स्थिति (Unconscious matter) से प्राणयुक्त स्थिति में (Emergence of Life), प्राण युक्त स्थिति से चेतन-युक्त स्थिति में (State of Conciousness)। और ऐसा मानना चाहिये वह प्राणी अब भी विकासोन्मुख है। जैसा ऊपर कह आये हैं—

विकास का नियम है—युद्ध, द्वन्द्व। अनादिकाल से सृष्टि का चला आता हुआ यही नियम है। युद्ध (Intense action, Struggle) द्वारा ही आगे बढ़ा जाता है; संहार सृष्टि का नियम है, विनाश द्वारा ही सृजन एवं पालन होता रहता है। प्रकृति में—इस संसार में—क्रूरता है, अन्याय है, असत्य है, इनसे घबरा कर, शस्त्र फेंक कर, यदि कहीं पीछे हट गये, अकर्मण्य बन गये;—तो ऐसी स्थिति विकास विरोधी स्थिति होगी, जड़ता की स्थिति होगी। भयातुर होकर अकर्मण्य (Inert) हो जाना तामस वृत्ति है। यह वृत्ति मनुष्य को जड़ पदार्थ बना देती है। क्रिया (Movement) तो करनी ही पड़ेगी और क्रिया करते समय प्रकृति तथा संसार में जो विरोधी शक्तियां सामने आयेंगी उनसे लड़ना पड़ेगा—उनको कुचल कर ही आगे बढ़ना होगा—कर्म में प्रवृत्त होना ही होगा। कौनसे कर्म में ? यह आवश्यक नहीं कि सब प्राणी एक ही कर्म करें। प्रत्येक प्राणी अपने अपने स्वधर्म के अनुसार कर्म में प्रवृत्त हो। स्वधर्म अर्थात् मनुष्य की अपनी जन्म-जात प्रकृति—अपना स्वभाव (Inclination)। अपनी अपनी प्रकृति तथा अपने अपने स्वभाव के अनुसार, अर्थात् अपनी अपनी विशेष अप्रस्फुटित पच्छन्न शक्तियों के अनुरूप (In conformity with one's own nature, potentialities and latent powers) मनुष्य कर्म में प्रवृत्त हो,—यह उसका स्वधर्म है। श्री० सी० वी० रमन यदि प्रयोगशाला छोड़ कर किसी आफिस के हिसाब किताब में माथा खुरचने लगें तो यह उनके स्वधर्म के विरुद्ध होगा। स्वभावतः ही युद्ध-कुशल सैनानी यदि कहने लगे मैं तो आटे दाल की दूकान खोल कर अपना जीवन निर्वाह करूँगा—और वह भी युद्ध-कालीन समय में, तो वह अपने स्वधर्म से विमुख होगा;—उसका स्वयं का विकास नहीं होने पायगा, इतना ही नहीं वरन् वह सृष्टि विकास की परंपरा में भी बाधक होगा। व्यक्ति, अपने स्वभाव के अनुकूल ऐसे कर्म में प्रवृत्त हो जिसमें उसकी विशेष प्रच्छन्न शक्तियों का प्रस्फुटन हो—प्रतिफलन हो,—विकास की एवं मुक्ति की ओर प्रगति की यह सहज सरल सीढ़ी है। स्वधर्म पालन से उल्लासमय स्वतंत्रता एवं आत्मानुभूति का द्वार खुलता है।

अरविन्द की दृष्टि में स्वधर्म पालन स्वयं एक योग-साधना है। स्वधर्म क्या है, इसकी प्रतीति के पश्चात् "जीवन कला" का दूसरा प्रश्न आता है कर्म कैसे किया जाय; अर्थात् क्या भावना, क्या दृष्टिकोण रखकर कर्म किया जाय। मोहगत अथवा भयातुर होकर कर्म ही नहीं करना अथवा कर्म में शिथिल रहना यह तामस (जड़) वृत्ति का द्योतक है। यह उचित नहीं। कर्म (स्वधर्म) में मनुष्य प्रवृत्त हो और खूब प्रवृत्त हो—कर्म खूब तीव्रता एवं पूर्ण शक्ति से करे। यह ढंग राजस-स्थिति का ढंग है—तामस स्थिति से बहुत ही उच्चतर। इस प्रकार कर्म मे प्रवृत्त होना स्वभावतः ही राग युक्त होता है, और मनुष्य को सुख दुःख, हर्ष विषाद, प्रेम ईर्षा इत्यादि द्वन्द्वों की अनुभूति होती है, यह अनुभूति जीव के विकास के लिये आवश्यक एवं कल्याणकारी होती है। कर्म में खूब तीव्रता एवं मनन से प्रवृत्त रहते हुए—वह प्रवृत्ति चाहे राग युक्त ही हो, अपनी व्यक्तिगत विशेष प्रच्छन्न शक्तियों को उनकी चरम उत्कर्ष की सीमा तक पहुंचा देना—इसमें भी प्राणी को एक विशेष संतुष्टि की अनुभूति होती है—किसी विशेष मानवीय शक्ति की अभिव्यक्ति के उल्लासमय दर्शन होते हैं। किन्तु साधना में—जीवन कला में—उपर्युक्त राजस स्थिति से भी ऊपर उठना होता है। राजस स्थिति से उच्चतर स्थिति है—सात्विक वृत्ति की। सात्विक वृत्ति से युक्त प्राणी अधिक ज्ञानवान, अधिक जाग्रत-चेतनायुक्त (Consciousness awakened to a higher degree) होता है। अतएव उसका कर्म अधिक सहज, सरल, बहुत अंशों तक रागहीन एवं द्वन्द्व मुक्त होता है। उसके कर्म में तीव्रता होते हुए भी, शक्ति होते हुए भी, ज्ञान युक्त समता एवं शांति होती है। किन्तु साधना में विकास के इस स्तर से उच्चतर एक स्तर और होता है,—जिसमें मनुष्य उपर्युक्त तीनों स्थितियों को पार कर जाता है।—वह उस स्थिति तक पहुँचता है जिसे त्रिगुणातीत स्थिति कहते हैं।

सात्विक स्थिति के विकास तक मनुष्य प्रकृतिबद्ध रहता है—मुक्त नहीं। प्रकृतिगत गुणों का चाहे वे सात्विक ही हों वह दास बना रहता है। उसमें अहंभाव रहता है, श्रेष्ठ से श्रेष्ठ लोकोपकारी कार्य करते

हुए भी वह सोचता है "यह कार्य मैं कर रहा हूं।" जब कि वास्तविक स्थिति यह होती है कि प्रकृति ही अपना सात्विक गुण उसमें संचरित करके प्रकृति ही उससे वे सात्विक एवं लोकोपकारी कर्म करवाती है। इस वास्तविक स्थिति का प्रत्यक्ष एवं मार्मिक भान होने से मनुष्य प्रकृति से भी ऊपर उठता है---प्रकृति की त्रिगुणी अवस्था को पार करता हुआ त्रिगुणातीत स्थिति को पहुँचता है। यह अद्‌भुत स्थिति होती है। मानो अहम् एवं प्रकृति बंधन से उसको मुक्ति मिलती है---स्वयं की उसको अनुभूति होती है--और एक अपूर्व सम-स्थिति में (Tranquility) में वह मग्न हो जाता है। प्रकृति से मुक्त हो, अपने अहं को खो, मानो निर्विकार, निर्विकल्प ब्रह्म में वह लीन हो जाता है। किन्तु अरविन्द की दृष्टि में यह अन्तिम तथा पूर्ण स्थिति नहीं। अन्तिम पूर्ण स्थिति का केवल एक पक्ष है---अव्यक्त सुप्त समाधि पक्ष। अंतिम स्थिति में इस निराकार अव्यक्त पक्ष के साथ, व्यक्त, सगुण एवं क्रियाशील पक्ष भी होता है। ये दोनों पक्ष एक पुरुषोत्तम--एक पूर्ण ब्रह्म में समाहित हैं--जो समाधिस्थ भी है, क्रियाशील भी है। परब्रह्म में लीन होने के उपरान्त भी मनुष्य कर्म में प्रवृत्त होता है, प्रकृति तथा संसार में कर्म द्वारा मानो वह स्वयं अभिव्यक्त हो रहा हो।

इस स्थिति तक पहुँचते हैं, "जीवन कला" (योग-साधना) द्वारा अर्थात् स्वधर्म पालन करते हुए, ज्ञान द्वारा यह भान करते हुए कि जो कुछ मैं करता हूं वह मैं नहीं करता स्वयं प्रकृति ही करती है,---एवं भक्ति भाव से (State of sweet emotional surrender) सब कर्मों को सृष्टि के स्वामी ईश्वर में अर्पण करते हुए। यह जीवन-कला, यह योग साधना, कर्म-ज्ञान-भक्ति का अपूर्व समन्वय है। इसका पूरा भेद तथा निश्चत रूप से इसकी भिन्न-भिन्न स्थितियां तथा उन स्थितियों में आरोहण अवरोहण के भेद तो योगी को ही मालूम हों। यह साधना करते हुए, अरविंद कहते हैं, मानों मनुष्य के सम्पूर्ण दैहिक एवं मानसिक तत्त्वों में (In the entire being of man) एक अद्‌भुत प्रकार की क्रांति, एक अद्‌भुत प्रकार का परिवर्तन होता है (A wonderful transformation of the being)

मानों वे ऊपर को उठते हों एवं कहीं ऊपर से एक अद्भुत प्रकार की "चेतना" की अवतारणा होती हो। मनुष्य प्रकृति-बद्ध स्थिति से मुक्त होता है—ईश्वरीय चेतनागत स्थिति (State of Superconsciousness) को प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में वह अव्यक्त ब्रह्म भी है, व्यक्त ब्रह्म भी है। वह अवर्णनीय समाधि में भी मग्न है एवं ताण्डव नृत्य में भी लीन है। इस नृत्य की झंकृत ताल में से ऐसे कर्म उद्भासित होते हैं जो प्रकृति एवं लोक संग्रहकारी होते हैं, सृष्टि की स्थिति तथा उसके विकास में सहायक होते हैं। अरविंद की क्रियाशीलता को हम अपनी स्थूल दृष्टि से तथा जीवन के स्थूल दैहिक (Physical) स्तर से नहीं देख सकते। अपने जीवन काल में वह भयावह क्रांतिकारी रहा है—वह महान विचारक, लेखक, एवं कवि भी रहा है; इस रूप को हमने अपनी स्थूल दृष्टि से देखा है, किंतु एकांत मौन में लुप्त उसकी सतत क्रियाशीलता में जो एक अभूतपूर्व क्रांतिकारिता थी उसका हम अपनी स्थूल दृष्टि से अनुमान नहीं लगा सकते। मानो वह अपनी ही धुरी पर स्थित, अपनी ही धुरी पर घूमता हुआ एक ज्वलंत किंतु मौन सूर्य था और अब भी है। जैसे सूर्य की किरणें चुपचाप "मानस" को खिलाती रहती हैं, चुपचाप तरुपल्लव में, जगत जीव में शक्ति भरती रहती हैं—उसी प्रकार इस सूर्य की किरणें अदृश्य उच्च मानस स्तर पर चलती हुई हमारी "मानवीय चेतना" को जाग्रत करती रहती हैं,—मानो वह "मानवीय चेतना" अब "दैविक चेतना" मे विकसित होने जा रही है। सृष्टि में यह एक युगान्तकारी क्रांति होगी—वैसी ही जैसी उस समय हुई थी जब कि "अचेतन द्रव्य" (Unconscious matter) में से प्राण (Life) जागे थे;—"प्राण" में से "चेतना" जागी थी। इस धर्म में अरविंद सतत लग्न थे—सतत क्रिया शील थे, अब भी मानो हैं। वहाँ से चुपचाप, अनजाने, सृष्टि के तत्त्वों को मानो प्रेरणा मिलती रहती है—'प्रकृति तू दैवी-चेतना युक्त (super conscious) बन।"

—: समाप्त :— 757